प्रकाशकीय

श्री 'श्याम' जोशी की इस तीसरी पुस्तक को प्रकाशित करते हुये हमें अतीव हर्ष है। क्योंकि इस प्रकार की पुस्तकों की हमारे हिंदी साहित्य में बहुत कमी है। सर्व साधारण पाठक उपन्यासों को रुचि के साथ पढ़ते हैं; परन्तु लेखक द्वारा उनमें वर्णित भावों को भली प्रकार समझने में असमर्थ रहते हैं। पुस्तक पढ़ी अवश्य जाती हैं परन्तु पाठक वास्तविक आनन्द में अपने को विभोर नहीं कर सकते। कारण स्पष्ट है कि बहुत कम व्यक्ति उपन्यास कला व सिद्धान्त से जानकारी रखते हैं और जिस रूप में उपन्यास साहित्य का अध्ययन होना चाहिये नहीं कर पाते। श्री श्याम 'जोशी' ने साहित्य की इस कमी को पूरा करने के हेतु, विद्यार्थियों और अध्ययनशील व्यक्तियों को उपन्यास साहित्य का पूरा आनंद दिलाने के लिये इस छोटी सी पुस्तक का निर्माण किया और इसमें संक्षेप में उपन्यास साहित्य के तत्वों का विवेचन किया है।

इस पुस्तक के अध्ययन से हर प्रकार के उपन्यासों के अध्ययन में सहायता मिलेगी और तुलनात्मक दृष्टि से उनका विचार किया जा सकेगा। इन सिद्धान्तों की कसौटी पर उपन्यास साहित्य की जाँच कर उन्हें श्रेणी बद्ध किया जाना संभव होगा और लेखक के मनोभावों को समझन व लेखक उनको प्रगट करने में कितना सफल हुआ है, यह भी भली प्रकार ज्ञात किया जा सकेगा। अतः हमें आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक सबके लिये और विशेषकर विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित होगी।

—मोहन न्यूज़ एजेंसी

भूमिका

लेखक ने इस पुस्तक के लिये मुझ से कुछ शब्द चाहे हैं। उपन्यास और कहानियां मैंने लिखी हैं, पर उनका विज्ञान मैंने नहीं सीखा करने से जानने का महत्व अधिक है। लिखते चाहे लिख गया हूं, पर कहानी आदि की वैज्ञानिक जानकारी से मैं कोरा हूं। फिर भी उनके आग्रह में मैं उनका स्नेह ही देखता हूँ, और स्नेह का तिरस्कार हो नहीं सकता।

पुस्तक साहित्य के विद्यार्थी की सहायता की दृष्टि से लिखी गई है। उसमें पर्याप्त श्रम के प्रमाण हैं और वस्तु को हृदयंगम करके लिखा गया है। इस तरह पुस्तक बड़े काम की और उपयोगी बन गई है।

उपन्यास आज साहित्य का सबसे लोकप्रिय माध्यम है।/कथा के बिना तो साहित्य का कोई प्रकार जी नहीं सकता। काव्य को कथा का आधार चाहि । दृश्य काव्य तो कथा से और भी अभिन्न है। भावोच्छ्वास के बल पर कुछ मुक्तक गीत आदि हो सकते हैं, पर वह संगीत के सहारे जीते हैं। स्वतन्त्र जी/पाना उनके लिये कठिन होता है।//

अब नाटक और कविता के लिये कुछ मर्यादा हैं। उपन्यास उन मर्यादाओंसे मुक्त है। जैसे कोई दायित्व उस पर नहीं है।वह छोटा हो

आभार-प्रदर्शन

उपन्यास आजकल साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं लोक-प्रिय अंग बनता जा रहा है। श्री जैनेन्द्रजी इस युग के ख्यातिसम्पन्न महान उपन्यासकार हैं।

आपने इस पुस्तक की भूमिका लिखने की जो कृपा की है, उसके लिये मैं आपका अत्यन्त आभारी हूं।

साथ ही श्रीयुत डा० नगेन्द्र का भी मैं कृतज्ञ हूं जिन्होंने इस भूमिका को प्राप्त करने में मुझे सहायता देने की कृपा की।

कार्तिक पूर्णिमा, २००८ वि०। —लेखक

यह पुस्तक कैसे बनी ?



मेरी " 'झाँसी की रानी'—एक दृष्टि " में दो खण्ड थे। एक सिद्धान्त दूसरा समीक्षा। उसके प्रेस में जाने के पूर्व ही मेरे कुछ मित्रों ने उसकी पाण्डुलिपि देखी और मुझे परामर्श दिया कि यदि इसके 'सिद्धान्त-खण्ड' को अलग एक स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में ही प्रकाशित करा दिया जावे तो वह उपन्यास-कला और उपन्यास-इतिहास के ज्ञान के लिये हिन्दी के प्रत्येक विद्यार्थी के उपयोग की वस्तु हो सकती है। अब तक ऐसी कोई संक्षिप्त पुस्तक इस विषय पर कदाचित है भी नहीं और इसके अभाव में परीक्षार्थियों को उपन्यास संबन्धी ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी असुविधा होती है।

मेरे उन मित्रों के उस सत्परामर्श के फल स्वरूप ही यह पुस्तक इस रूप में आज पाठकों के समक्ष आ रही है। आशा है विद्यार्थी समाज इससे विशेष लाभान्वित होगा।

विषय की गम्भीरता को देखते हुए इसका कलेवर अत्यन्त छोटा है, किन्तु यह तो मूलतः दूसरी पुस्तक का एक खण्ड था इसलिये जान बूझकर, कुछ कठिनाइयों का सामना करते हुए भी, स्थानाभाव के कारण न्यूनतम स्थान में उपन्यास संबन्धी सम्पूर्ण सामग्री देने का प्रयत्न किया था। इसलिये विशेष-ज्ञान-पिपासु-पाठक इस छोटी सी पुस्तक से विशेष तुष्टि न हो तो, परि ध्यान में रखते हुये इस समय इसकी संक्षिप्तता को करेंगे, ऐसी मुझे आशा है।

उपन्यास-सिद्धान्त

ॐ विषय ॐ



कथा-साहित्य और उपन्यास



साहित्य और उसके प्रकार

भावों की कलात्मक अभिव्यञ्जना का नाम ही साहित्य है। यह संसार दृश्य है और व्यक्ति उसका द्रष्टा। वह "जो कुछ देखता, सुनता अथवा अनुभव करता है उसका प्रभाव उसके हृदय पर अवश्य पड़ता है और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जो विचार निकल पड़ते हैं वे ही सच्चे साहित्य का निर्माण करते हैं।"* इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साहित्य में दो वस्तुएँ मुख्य हैं : एक अनुभूति और दूसरी अभिव्यञ्जना। इस अभिव्यञ्जना के आधार पर ही साहित्य के कई प्रकार किये जा सकते हैं। मूल रूप से साहित्य दो प्रकार का होता है : भावात्मक (Literature of power) और प्रज्ञात्मक (Literature of knowledge)† भावात्मक साहित्य के अन्तर्गत हम महाकाव्य, खण्डकाव्य मुक्तककाव्य, रूपक, गद्यगीत, उपन्यास, कहानी आदि को ले सकते हैं और प्रज्ञात्मक में निबन्ध, आलोचना आदि को।

---

* देखिये लेखक की " हरिऔध और वैदेही-वनवास "।

† Essay "on Literature" *By De Quincey.*

घटनाओं का भी योग होता था। किन्तु मानव-सभ्यता के विकास के साथ साथ इन अलौकिक घटनाओं की ओर मनुष्य की रुचि कम होती गई और वह वास्तविक जगत की ओर अधिक खिंचता गया। इससे कथा-साहित्य में उन्हीं घटनाओं को स्थान मिलने लगा जो मनुष्य के द्वारा घटित हो सकें। पहले कहानी के विषय पेड़-पौधे, जानवर, देवी-देवता अथवा राजा-रानी ही होते थे; किन्तु धीरे-धीरे इन सब के स्थान पर साधारण मनुष्य आता गया और आज की कहानियां आधि-भौतिक अथवा आधि-दैविक न होकर पूर्ण मानवीय होती हैं। वह मानव भी राजा-रानी सरीखा विशिष्ट-वर्ग का मानव नहीं; किन्तु साधारण-वर्ग का मानव, जिसकी अधिकता आज संसार में है और जिसके साथ हम निस्संकोच हँस-बोल और खेल कूद सकते हैं। यह तो हुआ विषय-गत अन्तर। इसके अतिरिक्त कहानियों में शैलीगत अन्तर भी आमूल चूल हो चुका है। पहले बहुधा कहानियां "एक था राजा" से प्रारम्भ होकर "जैसा उनको सुख मिला वैसा भगवान सब को दे" पर अन्त होती थीं। किन्तु अब इस प्रकार का कोई विधान नहीं रहा। इन परिवर्तनों से कथा-साहित्य में एक स्वाभाविकता आ गई जिससे पाठक के हृदय और मस्तिष्क दोनों को पर्याप्त सामग्री मिलने लगी।

कथा-साहित्य के भी शैलीगत विशेषताओं के कारण महाकाव्य, खण्ड-काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि भेद होते हैं। यहाँ हमें इनमें से केवल उपन्यास पर ही विचार करना है; किन्तु इसके लिये यह जानना आवश्यक है कि वे कौन से तत्त्व हैं जो उपन्यास को कहानी, नाटक, महाकाव्य आदि से पृथक करते हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि कहानी उपन्यास का एक अंश है और उपन्यास कहानी का विस्तृत रूप, वे वास्तव में भूल करते हैं।

उपन्यास और कहानी दोनों नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं, जिनका अपना अपना निजी अस्तित्व है। यदि किसी उपन्यास में से कोई घटना अलग निकाल ली जावे तो न वह कहानी कहला सकती है और न कोई कहानी, यदि उसे विस्तार देकर लिखा जावे तो, उपन्यास। उपन्यास में व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की झलक होती है, जब कि कहानी में उसके जीवन की किसी एक घटना पर ही प्रकाश डाला जाता है। दूसरे शब्दों में यदि उपन्यास उद्यान है, तो कहानी एक स्तवक। उपन्यास में एक मूल कथा होती है और उसको विस्तार देने के लिये कई अन्य छोटी-छोटी कथाओं का भी उसमें समावेश किया जाता है; किन्तु कहानी में केवल एक ही कथा हो सकती है, अन्य कथाओं के लिये उसमें स्थान नहीं होता। वरन् आजकल तो ऐसी भी कहानियां होने लगी हैं जिनमें कथा होती ही नहीं, या तो लेखक केवल वातावरण मात्र की सृष्टि भरकर देता है या केवल मनोभावों का विश्लेषण मात्र। बस इन्हीं के द्वारा प्रभावोत्पादन करना इन कहानियों का उद्देश्य होता है। अज्ञेयजी की 'रोज' कहानी में केवल वातावरण मात्र है और जैनेन्द्र जी की 'पत्नी' में केवल मनोविश्लेषण मात्र। उनमें कथानक कुछ भी नहीं है; किन्तु उपन्यास के लिये कथानक का होना आवश्यक है। बिना कुछ कथानक के उपन्यासकार का काम चल ही नहीं सकता। उपन्यास में चरित्र-चित्रण के लिये पर्याप्त स्थान रहता है; किन्तु कहानीकार को थोड़े में ही सब कुछ कर दिखाना होता है। कहानी में कुछ गिने चुने ही पात्र होते हैं और नपे तुले शब्दों और कार्यों में ही उनके चरित्रों का विकास दिखाया जाता है। उपन्यासकार कई घटनाओं और परिस्थितियों की सृष्टि कर, लम्बे-चौड़े कथोपकथनों द्वारा अथवा विश्लेषण द्वारा अपने पात्रों का चरित्र निर्माण कर सकता है; किन्तु कहानीकार का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है। कहानी में उपन्यास की अपेक्षा गठनशीलता की आवश्यकता अधिक है।

उपन्यास और कहानी

इसमें कथोपकथन आदि में केवल सार्थक शब्दों का ही प्रयोग कराया जा सकता है; निरर्थक बातों के लिये कहानी में स्थान नहीं है। उपन्यासकार अपने विचारों को भी सविस्तार अंकित कर सकता है; किन्तु कहानीकार को प्रभावान्विति की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। कहानी में चरित्र-चित्रण की भी आवश्यकता नहीं है, केवल वातावरण अथवा प्रभाव मात्र ही पर्याप्त है। इतना होने पर भी रूप और शैली में उपन्यास और कहानी—दोनों समान हैं।

उपन्यास और नाटक

उपन्यास और नाटक बहुत कुछ एक दूसरे के पास हैं। दोनों में व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का चित्र हो सकता है। दोनों में एक-एक आधिकारिक और उसे विस्तार देने के लिये प्रासंगिक कथाएँ होती हैं। जिस प्रकार नाटक में प्रारंभ, संघर्ष (conflict), संक्रान्ति (crisis) घातप्रतिघात और चरमसीमा (climax) आदि होते हैं, उसी प्रकार उपन्यास में भी ये सब हो सकते हैं। दोनों के मूल तत्व लगभग एक ही होते हैं। पात्रों के चरित्र विकास के लिये भी दोनों के पास पर्याप्त स्थान रहता है। दोनों बाह्य और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण कर सकते हैं; किन्तु यह सब होते हुए भी दोनों में बहुत अधिक अन्तर भी है। नाटक में नाटककार को अपने पात्रों पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है। वह जो कुछ कहना चाहता है उसे केवल पात्रों द्वारा ही कहला सकता है। उसे स्वयं कहने का कोई अधिकार नहीं होता। किन्तु उपन्यासकार को इस सम्बन्ध में पूर्ण स्वातंत्र्य है। वह चाहे तो पात्रों द्वारा भी अपने विचार प्रकट कर सकता है और चाहे तो स्वयं भी विश्लेषण कर सकता है। नाटक में नाटककार सदा छुपा रहता है, वह पाठकों के सामने पात्रों की आड़ लेकर ही आता है; किन्तु उपन्यासकार खुले रूप में सामने आकर पाठकों को अपने भावों और विचारों से अवगत करा सकता है। इस प्रकार नाटककार का क्षेत्र उपन्यासकार की अपेक्षा सीमित है। किन्तु दूसरे क्षेत्र में नाटककार

को उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक साधन भी उपलब्ध हैं। उपन्यासकार केवल अपनी वर्णन शक्ति द्वारा ही वातावरण की सृष्टि कर सकता है, जब कि नाटककार पटों, दृश्यों और पात्रों की भाव-भंगियों द्वारा भी वातावरण उपस्थित कर सकता है। वास्तव में देखा जावे तो नाटक एक स्वतन्त्र कला नहीं है, वह तो संगीत, अभिनय, उपन्यास, काव्य, चित्र आदि कई कलाओं का सम्मिश्रण मात्र है। उपन्यास की सफलता उसके रचयिता पर ही निर्भर है, जबकि नाटक की सफलता नाटककार पर तो है ही किन्तु साथ ही अभिनेताओं पर भी निर्भर करती है। उपन्यासकार अपनी इच्छानुसार कई छोटे छोटे वर्णनों और पात्रों की भी सृष्टि कर सकता है; किन्तु नाटककार अपने पात्रों की संख्या अधिक नहीं बढ़ा सकता। नाटक का रसास्वादन बिना रंग-मंच के पूर्ण रूप से नहीं किया जा सकता—यद्यपि आजकल पाठ्य-नाटकों की भी रचना होने लगी है—जब कि उपन्यास का आनन्द हम कहीं भी बैठकर ले सकते हैं। बा० गुलाबरायजी के शब्दों में 'उपन्यास एक प्रकार का जेबी-थियेटर बन जाता है।"

उपन्यास और महाकाव्य

पद्यात्मक कथा-साहित्य में महाकाव्य उपन्यास के समीप पड़ता है। दोनों में ही जीवन का चित्र होता है। घटना-क्रम दोनों के लिये आवश्यक है। जिस प्रकार का वस्तु-विन्यास नाटक का होता है वैसा ही उपन्यास का भी और वैसा ही महाकाव्य का। महाकाव्यों के नायक कुछ महापुरुष अथवा दिव्य होते हैं; किन्तु उपन्यासों के नायक साधारण मनुष्य ही होते हैं। हां, आधुनिकतम महाकाव्यों को देखते हुये तो दोनों में यह भी अन्तर नहीं रह जाता। आधुनिकतम महाकाव्यों में तो नायक भी साधारण मनुष्यों को ही बनाया जाने लगा है तथा उनमें वे अलौकिक घटनाएँ भी अब नहीं रहती हैं जो प्राचीन महाकाव्यों में रहती थीं। आजकल तो महाकाव्यों में भी घटनाओं के स्थान पर मनोविश्लेषण को प्रधानता मिलने लग गई है। आजकल

के महाकाव्य घटनात्मक नहीं होते; किन्तु वर्णनात्मक होते हैं। वर्तमान महाकाव्य, उपन्यास की तरह ही, जीवन को व्यक्त करते हैं, उसकी व्याख्या नहीं।* विचारों का प्रतिपादन भी दोनों में समान रूप से ही होने लगा है। इसलिये आधुनिकतम महाकाव्यों और उपन्यासों में यदि कोई अन्तर रह जाता है तो वह केवल शैली का है। महाकाव्य पद्यात्मक होते हैं और उपन्यास गद्यात्मक। हां, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि महाकाव्य में उपन्यास की अपेक्षा काव्यत्व और कल्पना तत्व फिर भी अधिक रहते हैं तथा उसमें कथोपकथन भी व्यवहार्य भाषा में नहीं होता है। इसलिये उसमें उपन्यास जितनी स्वाभाविकता नहीं आ पाती।

उपन्यास और इतिहास

यद्यपि इतिहास को साहित्य की श्रेणी में नहीं माना जाता तथापि कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण हमें उपन्यास को इतिहास के साथ रखकर देखने की आवश्यकता होती है। आगे हम देखेंगे कि उपन्यास की कथा प्रख्यात या ऐतिहासिक, उत्पाद्य और मिश्र—तीन प्रकार की होती है। इसलिये ऐसी स्थिति में जब कि उपन्यास की कथा ऐतिहासिक होती है यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में उठ जाता है कि तब उपन्यास और इतिहास में क्या अन्तर होगा। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि इतिहास के आधार कठोर सत्य ही होते हैं। जो घटनाएं अथवा पात्र वास्तव में हो चुके हैं, इतिहास में उन्हीं का वर्णन आ सकता है। उसमें थोड़ी भी संदिग्ध बातों के लिये स्थान नहीं है। दूसरे शब्दों में इतिहास ऐसा विज्ञान है जो तथ्यों और आंकड़ों (Facts and figures) पर अवलम्बित है। किन्तु इसके साथ

---

* "It does not interpret the facts of life but recreates it

—*The Epic By Abercrombie.*

यह भी नहीं भूलना चाहिये कि यह किसी व्यक्ति की जीवनी नहीं है। जीवनी और इतिहास में यही अन्तर है कि जीवनी किसी व्यक्ति के जीवन में होने वाली सम्पूर्ण घटनाओं का संकलन है, जब कि इतिहास में किसी व्यक्ति के जीवन की उन्हीं घटनाओं का समावेश होता है जो राष्ट्र और जाति से सम्बन्धित होती हैं। इस प्रकार इतिहास में राष्ट्र की प्रधानता है और व्यक्ति गौण है जब कि जीवनी में व्यक्ति ही सब कुछ है। इतिहास और जीवनी दोनों सत्य हैं जब कि उपन्यास में वस्तु-सत्य होते हुए भी कल्पना के लिये पर्याप्त स्थान है। उपन्यास की कथावस्तु चाहे ऐतिहासिक हो; किन्तु लेखक उसमें रोचकता और संतुलन लाने के लिये कल्पना का भी प्रयोग कर सकता है। वह कल्पना के बल पर नये पात्रों की भी सृष्टि खड़ी कर सकता है और घटनाओं की भी; किन्तु इस प्रकार की काल्पनिक सृष्टि खड़ी करते समय ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतना ध्यान रखना चाहिये कि वह वंशपरंपरागत मान्यताओं को सर्वथा न ठुकरा दे। वह कहीं ऐसा न कर बैठे कि जिससे राम राक्षस दिखाई पड़ने लगें और रावण देवता। ऐसा करने से लोकरुचि पर कठोर आघात होगा और इतिहास को भी धक्का पहुँचेगा। हां, वह साधारण घटनाओं में हल्कासा मोड़ अवश्य दे सकता है; किन्तु अपनी सीमा में रहकर ही। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इतिहास शुष्क मरु-भूमि है जब कि ऐतिहासिक उपन्यासकार कल्पना की सरिता बहाकर उसे सरस बना देता है। एक अंग्रेजी लेखक का मत है कि "इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब कुछ असत्य होता है, जब कि उपन्यास में नाम और तिथियाँ ही असत्य होती हैं, शेष सब सत्य।" यद्यपि इस उक्ति में बहुत कुछ भावुकता के दर्शन होते हैं और इसकी सत्यता में संदेह भी है तथापि कुछ अंशों में यह माना जा सकता है कि उपन्यासों में यद्यपि नाम और तिथियां कल्पित होती हैं; किन्तु जिन घटनाओं का उनमें समावेश होता है वे वास्तव में ऐसी होती हैं जिन्हें

हम दैनिक जीवन में देखते रहते हैं और उन्हें उपन्यास में पढ़कर उनकी सत्यता पर संदेह करना हमारे लिये कठिन हो जाता है। इतिहास में केवल दृश्य-घटनाओं का ही वर्णन होता है; किन्तु उपन्यास में पात्रों के भावों और विचारों का भी चित्रण किया जा सकता है। इतिहासकार केवल इतना कह सकता है कि अमुक व्यक्ति अमुक परिस्थितियों में उलझ गया; किन्तु उपन्यासकार इसके आगे यह भी जोड़ सकता है कि उस समय उस व्यक्ति के हृदय में अमुक २ प्रकार के भावों और विचारों का अन्तर्द्वन्द्व मचा। निष्कर्ष यह निकला कि इतिहास और उपन्यास के बीच कल्पना की विभाजक रेखा है, जहां वस्तु-सत्य मात्र होता है वह इतिहास है और जहां कल्पना मिश्रित सत्य होता है वह उपन्यास है। इतिहास का सम्बन्ध केवल व्यक्त से है जब कि उपन्यास का अव्यक्त से भी।

उपन्यास के तत्व



जिस प्रकार मनुष्य शरीर हाथ, पैर, नाक, कान, आंख आदि भिन्न भिन्न अवयवों से मिलकर बनता है उसी प्रकार उपन्यास का ढांचा भी कई तत्वों के मिलने पर खड़ा होता है। उपन्यास के तत्व इस प्रकार हो सकते हैं :—

१–कथानक, २–चरित्र-चित्रण, ३–कथोपकथन, ४–शैली, ५ वातावरण, ६–विचार तथा उद्देश्य और ७–काव्यत्व।

ये तत्व मूल रूप से होते तो सभी उपन्यासों में हैं; किन्तु भिन्न भिन्न प्रकार के उपन्यासों में भिन्न भिन्न तत्वों की प्रधानता रहती है। अगले प्रकरण में देखेंगे कि इन्हीं तत्वों की प्रधानता के कारण उपन्यासों के कई प्रकार हो गये हैं।

कथानक

उपन्यास का जो अस्थिपंजर है वह कथानक ही है। यह कथानक ही वह मूल आधार है जिस पर उपन्यास का भव्य-भवन खड़ा किया जाता है। अतः जब तक यह आधार पुष्ट न होगा, इस पर खड़ा किया गया भवन भी दृढ़ नहीं बन सकता। यदि यह आधार ही समतल न हुआ और उसके बीच में संधियां रह गईं तो भवन के खण्ड खण्ड हो जाने की सम्भावना है।

उपन्यास का आधार

उपन्यास का कथानक नाटक के समान ही दो भागों में विभक्त रहता है। जो कथा आदि से अन्त तक चलती रहती है और उपन्यास के मेरु दण्ड का कार्य करती है उसे आधिकारिक कथा कहते हैं। उपन्यास के नायक अथवा नायिका का इसी से मुख्य सम्बन्ध होता है। इसकी गति अविच्छिन्न रहनी चाहिये। इस आधिकारिक-कथा के चुनाव में ही लेखक की योग्यता प्रकट होती है। जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं को तो उपन्यास में रख नहीं सकते, अतः उपन्यासकार को जीवन की केवल उन्हीं घटनाओं का चयन करना चाहिये जो पाठक की संवेदना पर अधिक प्रभाव डाल सकें और जीवन का चित्र भी पूरा उतार दें।

आधिकारिक कथा

इस आधिकारिक-कथा को विस्तार देने के लिये जिन छोटी छोटी कथाओं का समावेश किया जाता है उन्हें प्रासंगिक कथाएँ कहते हैं। वे प्रासंगिक-कथाएँ ऐसी होनी चाहिये जो आधिकारिक-कथा को गतिशील बनाती रहें। यदि इनके योग से आधिकारिक कथा में बजाय आगे बढ़ने के कुछ शिथिलता आजावे तो ऐसी कथाएँ अच्छी न समझी जावेंगी।

प्रासंगिक-कथाएँ

कभी कभी ये प्रासंगिक-कथाएँ ऐसी भी होती हैं जो मूल-कथा की गति को तो कोई योग नहीं देतीं; किन्तु होती सप्रयोजन हैं। ऐसी कथाओं के मुख्यतः तीन हेतु देखने में आते हैं। या तो ऐसी कथाएँ केवल वातावरण की सृष्टि हेतु ही रक्खी जाती हैं। इस निमित्त रक्खी गई कथाएँ देश-काल का ज्ञान कराने तथा सामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालने में अवश्य सहायक होती हैं। दूसरा हेतु आधुनिक उपन्यासों में किसी मत-विशेष अथवा वाद विशेष का प्रचार भी देखा जाता है। लेखक केवल अपने मत की पुष्टि करने अथवा प्रचार करने के लिये ही कुछ घटनाओं का निर्माण करता है। तीसरा हेतु चरित्र चित्रण भी

प्रासंगिक-कथाओं के तीन हेतु

होता है। बहुधा उपन्यासकार अपने पात्रों के गुण-विशेष को उद्घाटित करने के लिये ही ऐसी कथाएँ रख देते हैं। यदि सूक्ष्म-दृष्टि से देखें तो प्रथम दो हेतु-वश रक्खी गई कथाएँ भी पात्रों के चरित्रों पर कुछ प्रकाश डाल ही जाती हैं।

किन्हीं किन्हीं उपन्यासों में दो कथाएँ समानान्तर गति से एक साथ चलती दिखाई पड़ती हैं। जैसे 'गोदान' में गाँव की तथा नगर की कथा। इस प्रकार की समानाधिकारी कथाएँ बहुधा विरोध प्रदर्शन करने के निमित्त रक्खी जाती हैं। इनसे पाठक को तुलनात्मक अध्ययन करने में बड़ी सहायता मिलती है। गोदान में गाँव और नगर के दो विरोधी चित्रों को एक साथ देख कर पाठक के हृदय में स्वाभाविक रूप से ग्रामीणों की दयनीय दशा के प्रति करुणा और सहानुभूति तथा उन्हीं ग्रामीणों के परिश्रम के बल पर गुलछर्रे उड़ाते हुये पूँजीपतियों के प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है।

दो समानाधिकारी कथाएँ

इस प्रकार की आधिकारिक, समानाधिकारी तथा प्रासंगिक कथाओं को एक साथ उपन्यास में स्थान देते समय उपन्यासकार को बहुत सावधानी से काम लेना चाहिये। इन विभिन्न कथाओं को मिलाने में ही लेखक का कौशल है। इन्हें इस युक्ति से एक दूसरे से सम्बद्ध करना चाहिये कि उनके बीच कहीं संधि न दिखाई पड़े। उनके बीच का सम्बन्ध-सूत्र बहुत दृढ़ होना चाहिये। यदि उपन्यास ऐतिहासिक हो तो भी ऐसी कथाओं को सम्बद्ध करने में, यदि आवश्यकता हो तो, उपन्यासकार कुछ कल्पना का प्रयोग भी कर सकता है।

कथा में गठनशीलता

घटनाओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध का होना आवश्यक है। उपन्यास पढ़ लेने पर पाठक के मन में यह शंका नहीं रहनी चाहिये कि अमुक

घटना क्यों हो गई अथवा उसका दूसरी से क्या सम्बन्ध था। पाठक को ऐसा मालूम पड़ना चाहिये मानों एक घटना पूर्व घटना के फलस्वरूप ही निसृत हो रही है। अगली घटना का बीज पूर्व घटना में ही पड़जाना चाहिये ताकि वह धीरे धीरे अंकुरित होकर आगे चलकर पल्लवित और पुष्पित हो सके।

घटनाओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध

घटनाओं के इसी सम्बन्ध के आधार पर पाश्चात्य विद्वान उपन्यासों के दो भेद कर डालते हैं :—१-सुसम्बद्ध-वस्तु-उपन्यास (Novels of organic plot और २-असम्बद्ध-वस्तु उपन्यास (Novels of loose plot) सुसम्बद्ध-वस्तु-उपन्यास हम उन्हीं को कहेंगे जिनकी उपरोक्त आधिकारिक, समानाधिकारी तथा प्रासंगिक कथाओं में सुदृढ़ सम्बन्ध हो। प्रयास करने पर भी कोई यह कहने का साहस न कर सके कि अमुक घटना व्यर्थ है, इसकी उपन्यास में कोई आवश्यकता नहीं है। घटनाओं का तारतम्य इस प्रकार का होना चाहिये कि यदि उनमें से किसी एक को निकाल लिया जावे तो सारे उपन्यास का ढांचा एक बार बिखर जावे और ऐसा मालूम पड़ने लगे मानों बीच में गहरी खाई पड़ गई हो। प्रत्येक घटना का उपन्यास के लिये विशेष मूल्य होना चाहिये। छोटी से छोटी घटना का भी उपन्यास में वह स्थान होना चाहिये जो बड़ी से बड़ी मशीन में एक कील का होता है, जिसको निकाल लेने पर सारी मशीन बेकार हो जाती है।

सुसंबद्ध-वस्तु तथा असंबद्ध-वस्तु उपन्यास

इसके विपरीत असम्बद्ध-वस्तु उपन्यासों में घटनाएँ बिखरी हुई सी प्रतीत होंगी। ऐसा जान पड़ेगा मानों उपन्यासकार ने कई घटनाओं को लाकर पास पास रख दिया हो, उनके बीच में कोई घनिष्ट सम्बन्ध न हो। ऐसी घटनाएँ केवल कौतुक गृह (Museum)

लगता। संघर्ष में ही यह मालूम पड़ता है कि कौन पात्र कितना साहसी और दृढ़ है, जो परिस्थितियों में गिरता पड़ता भी आगे बढ़ता रहता है। जीवन में भी इस प्रकार के संघर्ष कई आते हैं। इसलिये उपन्यास में भी जीवन की वास्तविक कठिनाइयों का चित्र उपस्थित करने के लिये संघर्ष की आवश्यकता है।

संघर्ष

यह संघर्ष बढ़ते बढ़ते उस सीमा तक पहुंच जाता है जहां जाकर पाठक स्वयं यह जानने को व्याकुल हो उठता है कि अब उन पात्रों की उस संघर्षमय वातावरण से मुक्ति किस प्रकार होगी। पाठक के हृदय में उस समय उथल पुथल मच जाती है और वह ऐसा अनुभव करने लगता है मानो वह आपत्ति का पहाड़ उसी पर आगिरा है और अब वह उसके नीचे से खिसक कर निकलने का मार्ग ढूंढ रहा है। ऐसे स्थल को 'चरमसीमा' कहते हैं। यह उपन्यास का वह स्थल होता है जहां तक कथा बड़ी तीव्र गति से अग्रसर होती दिखाई पड़ती है; किन्तु चरमसीमा के पश्चात् कथा में उतार आने लगता है और उसकी गति भी मन्द पड़ जाती है। फिर वह धीरे धीरे अन्त की ओर अग्रसर होती है।

चरम सीमा

नाटक के समान उपन्यास भी सुखान्त, दुखान्त अथवा विषादान्त हो सकते हैं। जिस उपन्यास के अन्त को देखकर पाठक के हृदय में शोक-सागर उमड़ पड़ता है उसे 'दुखान्त' तथा जिसका अन्त पाठक को हर्ष की स्वर्णिम-भूमि पर ले जाता है उसे 'सुखान्त' कहते हैं। 'विषादान्त' उपन्यास इन दोनों के मध्य की वस्तु है। इसमें अन्त वैसे तो दुख पूर्ण होता है; किन्तु फिर भी पाठक का हृदय कुछ परिस्थितियों के कारण उतना दुखी नहीं होता, वरन् कुछ शान्ति का अनुभव करता है, उसे 'विषादान्त' उपन्यास कहते हैं।

अन्त

मनुष्य जब अपने दैनिक जीवन से ऊब जाता है तभी वह साहित्य के माध्यम द्वारा उस रमणीय अतीन्द्रीय जगत में जाना चाहता है जहां आनन्द ही आनन्द की वर्षा होती रहती है। इसलिये उपन्यास ऐसे होने चाहियें जो पाठक का मनोरंजन कर सकें। यदि उपन्यास में रोचकता न हुई तो थका-मांदा पाठक उस रचना को कभी नहीं पढ़ना चाहेगा। इसलिये रोचकता उपन्यास के लिये अत्यावश्यक गुण है।

रोचकता

कथानक को रोचक एवं स्वाभाविक बनाने के लिये कथा में घात-प्रतिघात भी आवश्यक हैं। इनसे कथा में गति भी आती है, रोचकता भी बढ़ती है, कुछ कौतूहल भी जागता है और चरित्रों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जिस प्रकार 'प्रेमाश्रम' में जिस समय गायत्री मूर्छित होकर कमरे में गिर पड़ती है और ज्ञानशंकर उसे उठाता है उसी समय ज्ञानशंकर की पत्नी उन्हें उस अवस्था में देखकर कुछ अन्यथा समझ जाती है। यह है घात-प्रतिघात, जिसमें वास्तविकता न होते हुये भी भ्रम हो जाय। यह घात प्रतिघात 'दो-बहिनों' में भी बहुत सुन्दर दिखाया गया है।

घात-प्रतिघात

उपन्यासों में कल्पना का योग होना भी आवश्य है; किन्तु यह कल्पना ऐसी होनी चाहिये कि उपन्यास इसी जगत की वस्तु रहे किसी अलौकिक जगत की न बन जावे। घटनाएँ कल्पित होते हुये भी ऐसी होनी चाहियें जो संसार में नित्य प्रति घटा करती हैं। उनमें स्वाभाविकता का होना आवश्यक है। जब तक ऐसा न होगा पाठक के सामने उपन्यास द्वारा जीवन का वास्तविक चित्र नहीं खिंच सकता।

कल्पना

ये जो नियम ऊपर दिये गये हैं। उनमें से बहुत से पुराने पड़ गये हैं और इस युग के उपन्यासकार प्रगति की दौड़ में आगे बढ़

गये हैं वे नियमों आदि की कोई चिन्ता नहीं करते। एक प्रभाव विशेष की सृष्टि करना ही उनका ध्येय रहता है, या अपने 'मत' का प्रचार ही। उन्मुक्त शैली का सबसे अच्छा उदाहरण 'अज्ञेय' जी का 'शेखर—एक जीवनी' है।

विशेष

चरित्र-चित्रण

उपन्यासों के पात्र ठीक वैसे ही होने चाहियें जैसे इस संसार में होते हैं। जब पाठक उपन्यास को पढ़कर यह कह उठे कि अमुक पात्र को मैंने कहीं देखा है तो समझिये कि उपन्यासकार अपने कार्य में असफल हो गया। यह सजीवता पात्रों में तभी आवेगी जब उपन्यासकार इस जगत के प्राणियों को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखेगा। चरित्र - चित्रण में उपन्यासकार की अनुभूति ही सबसे अधिक कार्य करती है। वास्तव में देखा जावे तो उपन्यासकार का कार्य तो ब्रह्मा का कार्य है। वह तो केवल पात्रों का निर्माण करके अपने उपन्यास-जगत में छोड़ देता है। अब उसे उनके पीछे पीछे फिरने की आवश्यकता नहीं होती। उसे पहिले से ही अपने पात्रों में ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा कर देनी चाहिये कि वे स्वयं अपना मार्ग बनाते हुये जीवन-यात्रा पर अग्रसर होते रहें। उपन्यासकार को तो केवल द्रष्टा की भांति तटस्थ रहकर अपनी सृष्टि का अवलोकन मात्र करते रहना चाहिये। वे ही पात्र सजीव कहलावेंगे और पाठक के समक्ष जीवन का साकार चित्र उपस्थित कर सकेंगे जो परिस्थितियों से लड़ते-झगड़ते, कभी परिस्थितियों को बनाते, बिगाड़ते

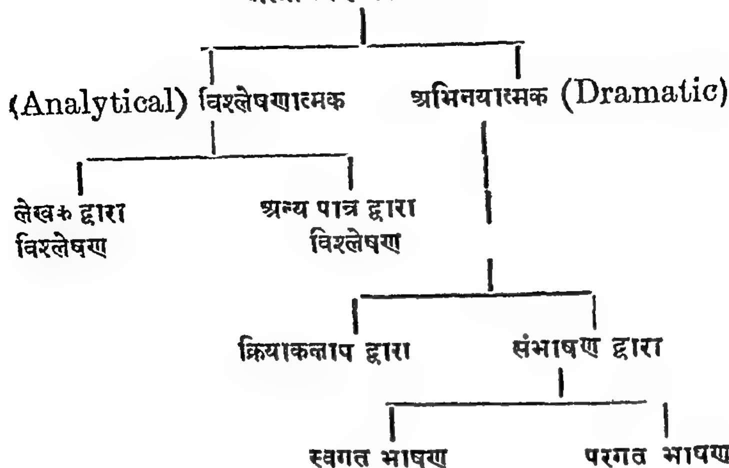
पात्रों में सजीवता

और कभी उनसे स्वयं बनते बिगड़ते, अबाधगति से आगे बढ़ते रहेंगे। पात्रों की यह स्वच्छन्द-गति ही उपन्यास की प्राण है। यदि पात्र उपन्यासकार के हाथ की कठपुतली बने हुये हैं, यदि उनमें स्वयं की सत्ता नहीं है, यदि उनमें इतनी शक्ति नहीं है कि वे अपना मार्ग स्वयं निर्धारित कर सकें तो वे मनुष्य न होकर मूर्ति हैं। उपन्यास के पात्र तो इतने स्वावलम्बी होने चाहियें कि एक बार निर्माण कर देने के बाद उपन्यासकार चाहते हुये भी उनके कार्य में हस्तक्षेप न कर सके, उनकी जीवन-दिशा न बदल सके और यदि बलात कुछ कर बैठे तो पात्रों की प्राणहानि हो जावे अर्थात् उसमें अस्वाभाविकता की गन्ध आने लगे। 'प्रेमाश्रम' का ज्ञानशंकर कुछ इसी स्वच्छन्द-गति का पात्र है कि अन्त में प्रेमचन्दजी को, कुछ वश न चलने पर, उसे गंगा में ही डुबोना पड़ा।

चरित्र के दो प्रकार

मनुष्य का चरित्र दो प्रकार का होता है: आन्तरिक और बाह्य। बाह्य चरित्र के अन्तर्गत उसकी आकृति, वेश-भूषा, रहन-सहन, व्यवहार, कार्य आदि आ जकते हैं और आन्तरिक में उसके हृदय के विचार, भाव, इच्छाएँ, राग, द्वेष, घृणा, क्रोध आदि। जब तक इन दोनों पर उपन्यास में प्रकाश न डाला जावे तब तक पात्रों की सजीव मूर्ति हमारे सामने आ ही नहीं सकती।

अब तक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की जो विधियां देखने में आती हैं उनका वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है:—



जहां पात्रों के चरित्रों का विश्लेषण लेखक स्वयं करता है वहाँ उसे बहुत संयत रहना चाहिये। उसे अपने पात्र के हृदयगत भावों

लेखक द्वारा विश्लेषण

विकारों, आकृति, वेश-भूषा, व्यवहार और क्रियाकलाप की ओर केवल संकेत मात्र करना चाहिये, अपनी ओर से कुछ मत प्रकट नहीं करना चाहिये। उसे यह नहीं कहना चाहिये कि अमुक कार्य अच्छा था अथवा बुरा। उसका कार्य तो चित्रण मात्र है। उसके अच्छे बुरे का निर्णय करना तो पाठक अथवा समालोचक का कार्य है। जहां लेखक इस सिद्धान्त को भूल बैठता है वहीं वह उपन्यासकार से समालोचक बन जाता है। ऐसा होने पर पाठकों की कल्पना-शक्ति का कोई भी उपयोग न होगा। उन्हें तो पका पकाया मसाला मिल जायेगा। ऐसी स्थिति में पाठक यह अनुभव करने लगेंगे मानो वे कक्षा में बैठे हैं और अध्यापक पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध में आलोचनात्मक भाषण दे रहा है। इससे रोचकता चली जावेगी और पाठक को केवल चारित्र्य-शास्त्र का उपदेश ही उपदेश मिलेगा। अपने पात्रों

जब अकेले में बैठा पात्र अपने हृदयगत भावों को प्रकट करता रहता है तो उसे हम स्वगत-भाषण कहते हैं। अंग्रेजी में भी इससे मिलती जुलती Soliloquy होती है। नाटकों में तो ऐसे स्वगत-भाषण अस्वाभाविक लगते हैं; किन्तु उपन्यासों में वे खप जाते हैं। ऐसे भाषणों से पात्र के वास्तविक विचारों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। वहां 'हाथी के दांत खाने के और और दिखाने के और' वाली बात का संदेह ही नहीं रहता; वहां तो तर्क वितर्क सब सामने आ जाते हैं।

स्वगत-भाषण

क्रियाकलाप के अतिरिक्त किसी पात्र के चरित्र का परिचय प्राप्त करने का साधन उसका पर पात्र के साथ वार्तालाप ही है। यद्यपि पर पात्र से वार्तालाप करते समय व्यक्ति अपने वास्तविक विचारों को दबा कर बात भी बना सकता है, तथापि सत्य छुप नहीं सकता, वह प्रकट हो ही जाता है। मनुष्य के पास किसी के विचारों को जानने का साधन भी यही है, यदि मनुष्य देवता बन जावे तो अन्तर्यामी भी हो सकता है।

परगत भाषण

चरित्रों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है। कुछ लोग चरित्रों को —स्थिर और गतिशील—इन दो भागों में विभक्त करते हैं।

मनुष्य-जीवन बड़ा जटिल है। इसमें मनुष्य को अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। ससार के सब प्राणी एक सरीखे नहीं होते। कुछ मनुष्य तो ऐसे होते हैं जो कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी दृढ़ बने रहते हैं। चाहे कैसी भी परिस्थिति में वे जा पड़ें उनके स्वभाव तथा चरित्र में कोई अन्तर नहीं आता। वे परिस्थितियों में गिरते पड़ते आगे बढ़ते रहते हैं, उनके चरित्र में एकरसता बनी

स्थिर चरित्र

रहती है। उपन्यास में ऐसे चरित्रों को 'स्थिर-चरित्र' कहते हैं। वे जिन गुण, धर्म, स्वभाव को लेकर उपन्यास के प्रारम्भ में हमारे सामने आते हैं, अन्त में भी वे हमे उसी रूप में मिलते हैं। वे स्वयं अपने चरित्र के द्वारा परिस्थितियों को बनाते अथवा बिगाड़ते चलते हैं; किन्तु परिस्थिति उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। वे उपन्यासाकाश में ध्रुवतारे के समान चमकते रहते हैं, जो कभी अपना स्थान नहीं बदलता। ये पात्र चाहे सद्मनोवृत्ति वाले हों या असत् वाले; जैसा भी उनका चरित्र होता है सदैव वैसा ही बना रहता है। उदाहरण स्वरूप हम 'गोदान' के होरी को ले सकते हैं। यह वह चट्टान है जिस पर अनेकों आंधी और तूफान आकर टकराते हैं; किन्तु वह अटल बनी रहती है। होरी कठिन से कठिन परिस्थितियों में पड़ता है ; किन्तु उसे 'मरजाद' तो निबाहनी ही पड़ती है। वह एक कर्म वीर की भाँति अपना कर्तव्य करता चला जाता है; किन्तु उसके चरित्र में कहीं भी परिवर्तन नहीं होता।

गतिशील चरित्र

इन स्थिर चरित्रों के विरुद्ध कुछ ऐसे भी चरित्र होते हैं जो परिस्थितियों के साथ साथ बदलते रहते हैं। दूसरे शब्दों में ये रिस्थितियों के दास हो जाते हैं। ये परिस्थियों से बहुत जल्दी प्रभावित हो जाते हैं। इनका चरित्र उस छुई-मुई के पेड़ सरीखा होता है, जो छूते ही मुरझा जाता है और छोड़ते ही फिर अपनी प्रकृतावस्था में आजाता है। इस प्रकार इनके जीवन में भी अनेकों उत्थान और पतन होते हैं। कभी ये उत्थान से पतन की ओर जाते दिखाई पड़ते हैं और कभी पतन से उत्थान की ओर। ऐसे चरित्रों को 'गतिशील' कहते हैं। 'ग़बन' का रमानाथ ऐसा ही है। उसका चरित्र परिस्थितियों के साथ बनता और बिगड़ता है। वही रमानाथ जो विद्यार्थी जीवन में एक अच्छा छात्र था परिस्थितियों के वश सरकारी रकम चुरा भागने में भी नहीं हिचकता।

वास्तव में देखा जावे तो ये गतिशील चरित्र ही स्वाभाविक होते हैं। संसार में 'होरी' कम हैं, 'रमानाथ' अधिक। मानव-स्वभाव बड़ा दुर्बल है। परिस्थितियां उससे न जाने क्या करा लेती हैं। 'स्थिर-चरित्र' एक प्रकार से आदर्श है जबकि 'गतिशील' यथार्थ। आजकल के उपन्यासों में इन्हीं गतिशील चरित्रों को अधिक अङ्कित किया जाता है। इनके चरित्रों में मनोविज्ञान की अच्छी सामग्री मिलती है।

पात्रों का वर्गीकरण एक और प्रकार से भी किया जाता है। वह है : वर्गगत और व्यक्तिगत

वर्गगत चरित्र

उपन्यासों में कुछ ऐसे पात्र होते हैं जो किसी समुदाय विशेष के प्रतिनिधि स्वरूप लाये जाते हैं। इनके चरित्र में इनका निजी व्यक्तित्व कुछ भी नहीं होता, इनमें केवल वे ही सामान्य गुण-दोष पाये जाते हैं जो उस वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति में आसानी से मिल जाते हैं। जिस प्रकार 'गोदान' के राय साहब। ये एक प्रकार से जमीदार वर्ग के प्रतिनिधि हैं। इनमें जो गुण-दोष दिखाये गये हैं वे वास्तव में इनके नहीं हैं; किन्तु लगभग सभी जमींदारों के हैं।

व्यक्तिगत चरित्र

उन वर्गगत पात्रों में अतिरिक्त अन्य पात्र व्यक्तिगत चरित्र लिये हुये होते हैं। इनका अपना अपना निजी व्यक्तित्व होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य में कुछ ऐसे गुण-दोष होते हैं जो लगभग मनुष्य जाति की प्रत्येक इकाई में पाये जाते हैं; किन्तु इन सामान्य गुणों के अतिरिक्त जो विशेष गुण होते हैं उन्हीं के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है। उपन्यासों में ऐसे ही चरित्र सफल माने जाते हैं। कुशल उपन्यासकार तो अपनी रचना में ऐसे व्यक्तिगत-चरित्रों का अङ्कन

करता है जिन्हें देखकर हम तत्काल कह देते हैं कि इस प्रकार के व्यक्ति को हमने कहीं देखा है। किन्तु ये व्यक्तिगत विशेषताएँ पात्र में किसी सीमा तक होनी चाहिये। यदि उसमें विशेषताएँ ही विशेषताएँ होगईं और सामान्य कुछ भी न रहा तो वह अजायबघर में बन्द करने योग्य बन जायेगा। इसलिये पात्रों में उपन्यासकार को विशेष और सामान्य का संतुलन रखना चाहिये।

आदर्श और यथार्थ

चरित्र चित्रण में आदर्श और यथार्थ का प्रश्न भी बड़े महत्व का है। संसार दोषों का भाण्डार है। इसमें सामान्य व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें गुण और दोष दोनों मिलते हैं। जहाँ मनुष्य में कई गुण होते हैं, वहां दोषों की भी कमी नहीं रहती। ऐसा आज के जगत में कदाचित ही कोई मनुष्य मिले जिसमें केवल गुण ही गुण हों, दोष का नाम भी न हो। मनुष्य के मनुष्यत्व के लिये दोषों का होना आवश्यक है अन्यथा वह मनुष्य के पद से उठकर देवत्व ग्रहण कर लेगा। किन्तु यह संसार मनुष्यों का है, देवता तो स्वर्ग में रहते हैं। इसलिये उपन्यासकार को भी मनुष्य-जीवन का सच्चा और स्वाभाविक चित्र अङ्कित करने के लिये ऐसे ही पात्रों की अवतारणा करनी पड़ती है, जिनमें गुण-दोष समान रूप से मिलते हैं। जिस मनुष्य में गुण अधिक और दोष कम होते हैं वह सज्जन कहलाता है और जिसमें इसका उल्टा होता है वह दुर्जन। उपन्यासकार इन दोनों के चरित्र अङ्कित कर सकता है। ऐसे चरित्रों को यथार्थ चरित्र कहते हैं। किन्तु जिन चरित्रों में उपन्यासकार गुण ही गुण बताता है, उन पर दोषों की छाया भी नहीं पड़ने देता, उन्हें हम आदर्श चरित्र कहते हैं, जिनका आज के इस कलियुग में मिलना तो असम्भव है। जहाँ उपन्यासकार यथार्थ चित्र अंकित करेगा वहां जीवन का विश्लेषण मात्र होगा, परिशोधन नहीं। यदि आपको किसी रचना द्वारा समाज को नैतिक शिक्षा देनी है,

यदि चरित्र निर्माण की भावना लेकर आप रचना करते हैं, तो उस समय आपको आदर्श चरित्रों की ही कल्पना करनी होगी; किन्तु स्मरण रहे, वह निरी कल्पना होगी, वास्तविकता नहीं; जब कि आज का उपन्यासकार अपनी रचना को कल्पना-लोक की वस्तु बनाना नहीं चाहता, वह तो वस्तु-जगत का चित्र दिखलाना चाहता है।

कुछ उपन्यासकार यथार्थ के नाम पर चरित्रों के केवल कृष्ण पक्ष (Dark side) को ही लेकर चलते हैं, जो समाज में सुरुचि के स्थान पर कुरुचि फैलाने वाले होते हैं। ऐसे उपन्यास समाज के लिये कल्याणकारी नहीं हो सकते। यथार्थ चित्रण में गुण और दोष दोनों का समान रूप से अङ्कन होना चाहिये।

मनोविज्ञान

सफल और सजीव चित्रण के लिये मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण भी अत्यन्त आवश्यक है। आज का पाठक उपन्यासों में इसी मानसिक हल-चल को देखना चाहता है। अपने पात्रों को विभिन्न परिस्थियों में डालकर उनकी मानसिक उथल-पुथल का सजीव चित्रण कर देना ही उपन्यासकार की कला है। जब तक उपन्यास में पात्रों के भावों का चित्रण न होगा तब तक पात्रों का चित्र भी अधूरा ही रह जावेगा। इसके अतिरिक्त मनुष्य कार्य भी अपने मनोवेगों से प्रेरित होकर ही करता है इसलिये घटनाओं के निर्माण में भी लेखक को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम लेना चाहिये।

अन्तर्द्वन्द्व

जिस प्रकार मनुष्य के चारों ओर घटनाओं का द्वन्द्व चलता रहता है उसी प्रकार उसके मस्तिष्क में भी विचारों का द्वन्द्व मचा करता है। वह कभी ऐसी परिस्थितियों में पड़ जाता है जब दो विरोधी भाव उसके मस्तिष्क का मंथन किया करते हैं। वह सोचा करता है—यह करूँ या वह करूँ, यह अच्छा है या बुरा है। इस विचारों और भावों के

संघर्ष का नाम ही अन्तर्द्वन्द्व है, जिसकी प्रधानता आधुनिक उपन्यासों की विशेषता है।

कथोपकथन

उपन्यास के पात्रों के चरित्र पर पूर्ण प्रकाश डालने एवं उपन्यास में स्वाभाविकता लाने के लिये कथोपकथन अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। "उपन्यास में संभाषण कला का उपयोग बहुत देर में हुआ, प्रारम्भ में बहुत दिनों तक केवल वर्णनात्मक शैली का ही बोलबाला था।"* अतः हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में पात्रों के चरित्र भी पूर्ण प्रस्फुटित न हो पाये।

कथोपकथन में स्वाभाविकता एवं नाटकीयता

उपन्यास जीवन का चित्र है, प्रतिबिम्ब नहीं। इसलिये उसके पात्रों की भाषा भी ठीक वैसी ही नहीं होती; जैसी हम नित्य बोलते हैं; क्योंकि व्यावहारिक भाषा और साहित्यिक भाषा में सदैव अन्तर रहता है। जब यह अन्तर मिटने को आता है तभी एक तीसरी भाषा स्वतः ही निकल पड़ती है जो बोल चाल की भाषा का स्थान ग्रहण कर लेती है; यह संसार का नियम है। यदि दैनिक व्यवहार में आने वाली भाषा को ज्यों का त्यों उपन्यास में अंकित कर दिया जावे, तो वह कथोपकथन नीरस सा प्रतीत होगा। यही वास्तविक जीवन और उसके चित्र साहित्य में अन्तर है। इसलिये उपन्यास के कथोपकथनों को सरस बनाने के लिये उनमें नाटकीयता लानी पड़ती है। किन्तु उन्हें नाटकीय बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वे जीवन से बहुत दूर न जा पड़ें; अन्यथा उनमें अस्वाभाविकता की गन्ध आने लगेगी। इस प्रकार उपन्यासकार का कर्तव्य बहुत कठोर है। उसे पात्रों के

* डा० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास।

कथोपकथन स्वाभाविक भी रखने पड़ते हैं और उन्हें नाटकीय भी बनाना पड़ता है। जहां वास्तविकता और नाटकीयता दोनों समानुपात में होती हैं वे ही कथोपकथन स्वाभाविक, सुन्दर और प्रभावोत्पादक होते हैं।

कथोपकथन पात्रों और समय के अनुकूल

कथोपकथनों में भाव और भाषा, दोनों, पात्रों और समय के अनुकूल होने चाहियें। जो पात्र जिस स्तर (Standard) का हो उसके भाव भी वैसे ही होने चाहियें और भाषा भी। जिस प्रकार एक ओर तो प्रेमचन्द जी के गोदान में दर्शन-शास्त्री प्रो० महता का भाषण सुनिये — मेहता ने दार्शनिक मुसकान के साथ कहा, "जिस तरी पर बैठे हम लोग जीवन-यात्रा पार कर रहे हैं, वह तो इससे कहीं निस्सार है मालती? क्या डर रही हो?"—और दूसरी ओर उन्हीं की 'नशा' कहानी में एक देहाती के शब्द सुनिये — एक ग्रामीण बोला, "दफतरन मां घुसन तो पावत नहीं, उस पर इत्ता मिजाज।"—पहले उदाहरण के भाव और भाषा एक दार्शनिक के ही अनुकूल हैं और दूसरे में एक अनपढ़ ग्रामीण के ही। यही है भाव और भाषा की स्वाभाविकता। सफल कथोपकथन की कसौटी भी यही है कि हम उसे पढ़कर तत्काल निश्चित रूप से कहदें कि ये शब्द अमुक पात्र के अतिरिक्त और किसी के हो ही नहीं सकते। कथोपकथनों पर पात्रों के व्यक्तित्व की इतनी गहरी छाप होनी चाहिये। उपन्यासकार स्वाभाविकता लाने के लिये ग्रामीण पात्रों से देशी-बोलियों का भी प्रयोग करा सकते हैं। ऐसे प्रयोग कथोपकथन को सजीव बना देते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में बख्शी जी ने एक बार आपत्ति की थी कि यदि कोई पात्र चीनी हो तो मुन्शी प्रेमचन्द जी चीनी में बुलायेंगे? इस सम्बन्ध में हमारा तो यह मत है कि जो पात्र हिन्दी-भाषा-

भाषी प्रदेश के हों वे अपने स्तर के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर अपनी प्रादेशिक बोलियों का भी प्रयोग कर सकते हैं, क्योंकि प्रादेशिक बोलियां—जैसे अवधी, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी, ब्रज आदि। हैं तो हिन्दी की ही शाखाएँ, अतः इनके प्रयोग से उपन्यास का 'हिन्दीत्व' मिट नहीं सकता और उससे स्वाभाविकता भी आ जावेगी। हां, जो अहिन्दी-भाषा-भाषी पात्र हैं उनकी भाषा होनी तो चलती खड़ी बोली ही चाहिये, किन्तु उसमें भी आवश्यकतानुसार स्वराघात, उच्चारण एवं शैली में कुछ अन्तर कर देना चाहिये, जैसा वास्तव में होता भी है। किन्तु स्मरण रहे कि ग्रामीण-बोलियों आदि का प्रयोग सीमित ही हो, उपन्यास को Variety Show बनाने का प्रयत्न न किया जाय।

कथोपकथन द्वारा कथा में गति एवं चरित्रों पर प्रकाश

कथोपकथन में दो प्रधान गुण होने चाहिये। एक तो उसके द्वारा कथा में गति आनी चाहिये और दूसरे चरित्रों पर प्रकाश भी पड़ना चाहिये। यदि इन दोनों में से एक भी काम कथोपकथन द्वारा न होता तो वह व्यर्थ है। निरर्थक लम्बे चौड़े कथोपकथन उपन्यास को नीरस बना देते हैं। कथोपकथन सदैव संक्षिप्त और सारगर्भित होने चाहिये। नाटकीय-लाघव (Dramatic Economy) का यही अर्थ है कि कथोपकथन छोटा भी हो और वह या तो चरित्र पर प्रकाश डालता हो या कथा को गति देता हो।

उपन्यासकार को कथोपकथनों के माध्यम द्वारा केवल ज्ञान - प्रदर्शन का प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसे केवल पांडित्य-पूर्ण लम्बे भाषण कथोपकथन नहीं कहला सकते। उसे यह स्मरण रखना चाहिये कि उद्धरण-चिन्ह का प्रयोग ही किसी

सन्दुर्भ को कथोपकथन नहीं बना देता।* ऐसे लम्बे भाषणों से कथा की गति भी अवरुद्ध होती है और उपन्यास में नीरसता भी आ जाती है। यह दोष प्रेमचन्द जी में बहुत पाया जाता है। जहां वे पात्रों द्वारा ऐसे भाषण प्रारम्भ कराते थे वहां कदाचित् भूल जाते थे कि वे उपन्यास लिख रहे हैं या निबन्ध।

शैली

संसार में भाव और विचार ही सब कुछ नहीं हैं; किन्तु उनकी अभिव्यक्ति का ढंग भी कुछ है। इस अभिव्यक्ति के ढंग को ही शैली कहते हैं। एक ही बात कई प्रकार से कही जा सकती है। कोई व्यक्ति एक बात को इतने अच्छे ढंग से कह सकता है कि सुनने वाला प्रभावित हो जाय, और दूसरा व्यक्ति उसी बात को इस ढंग से भी कह सकता है कि सुनने वाला क्रोध में आकर चाँटा मारदे। शैली द्वारा पात्र का चरित्र भी व्यक्त होता है।

उपन्यास की एक विशेषता मनोरंजकता भी है। पाठक कुछ मनोरंजन की दृष्टि से भी उपन्यास पढ़ते हैं। इसलिये उपन्यास की शैली अत्यन्त मनोहर एवं हृदयग्राही होनी चाहिये। उस शैली में प्रवाह की बहुत अधिक आवश्यकता है। इससे पाठक अपने को भूलकर उपन्यासकार के भावों के साथ बहता चला जाता है।

उपन्यास की शैली इतनी सरल और सुबोध होनी चाहिये कि जिसे साधारण श्रेणी का पाठक भी हृदयंगम कर सके। इसके लिये उपन्यास में प्रसाद गुण की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त यथास्थान ओज और माधुर्य का प्रयोग भी रचना को रोचक बना देता है।

---

* "The use of quotation marks does not convert a passage into dialogue."

भाषा को चमत्कारिक बनाने के लिये उपन्यास में उपमा, रू
उत्प्रेक्षा आदि साधारण अलंकारों का प्रयोग भी वांछनीय है; कि
यह हो सीमित। हमारे यहां भाषा की लक्षणा, व्यंजना आदि
शक्तियां बताई गई हैं वे भी भाषा को प्रभावशालिनी बनाने
सहायता पहुंचाती हैं।

जैसा पहले कह आये हैं उपन्यासकार को कथोपकथन त
विश्लेषण—दोनों प्रकार की शैलियों के उपयोग का अधिकार
जिस कृति में इन दोनों शैलियों का संतुलित प्रयोग होता है
कला की दृष्टि से एक सफल रचना कहलाता है।

हिन्दी-साहित्य में बहुधा प्रेमचन्द-शैली और प्रसाद-शैली
भी चर्चा हुआ करती है। प्रेमचन्द-शैली सरल एवं स्वाभाविक
किन्तु प्रसाद-शैली कुछ कठिन और अलंकृत। उपन्यासों के f
प्रेमचन्द-शैली ही सर्वमान्य है, क्योंकि उसमें सरलता है जो जी
की वास्तविकता है।

उपन्यास-लेखन में अब तक तीन या चार शैलियों का प्र
देखने में आता है।

अधिकांश उपन्यास तो इस प्रकार लिखे जाते हैं मानो उपन्या
कार द्रष्टा है और जो कुछ वह देखता है उसका वर्णन करता च

वर्णन-शैली

जाता है। ऐसे उपन्यास अन्य पुरुष में लि
जाते हैं। इनमें उपन्यासकार को अपने त
प्रत्येक पात्र के मनोभाव व्यक्त करने का अच
अवसर मिल जाता है। इस शैली को 'वर्णन-शैली' कहते हैं। हि
के अधिकांश उपन्यास इसी शैली में लिखे गये हैं। जैसे—गोदा
गबन, प्रेमाश्रम, सेवासदन आदि।

कुछ उपन्यासकार स्वयं अपने उपन्यास के नायक बनकर उत्तम-पुरुष में रचना करते हैं, मानों वे स्वयं अपने ही विषय में सब कुछ कहते चले जा रहे हों। इस प्रकार के

आत्मकथा-शैली

उपन्यासों में नायक अपने सम्बन्ध में तो बहुत कुछ कह सकता है; किन्तु अन्य पात्रों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता। इससे एक चरित्र के अतिरिक्त अन्य चरित्र अस्फुटित रह जाते हैं। सियारामशरण गुप्त का 'अन्तिम-आकांक्षा', रामचन्द्र वर्मा का 'कलंक', इलाचन्द्र जोशी का 'घृणामयी', ब्रजनन्दनसहाय का 'सौंदर्योपासक' इसी शैली की रचनाएँ हैं।

किन्हीं किन्हीं उपन्यासों में दो या तीन पात्र एक साथ अपनी अपनी कथा कहते चलते हैं। जैसे — चन्द्रशेखर पाठक का 'वीरांगना-रहस्य', ब्रजनन्दन सहाय का 'राधाकांत' आदि।

इन सब प्रकार की रचनाओं में आत्मकथन अधिक होता है इसलिये इसे 'आत्मकथा-शैली' कहते हैं। इस शैली में 'वर्णन- शैली' की अपेक्षा कम रचना हुई है।

तीसरी 'पत्र-शैली' है। इसमें सारा उपन्यास पत्रों ही पत्रों में लिखा जाता है। इसमें रोचकता के स्थान पर कुछ शिथिलता आ जाती है। इस शैली में बहुत कम रचना

पत्र-शैली

हुई है। उग्र जी का 'चन्द हसीनों के ख़तूत' अनूपलाल मंडल का 'समाज की वेदी पर' आदि उपन्यास इस शैली में लिखे गये हैं।

एक 'डायरी-शैली' और है; किन्तु इसमें तो कुछ एक दो गिने चुने उपन्यास ही मिलते हैं। जैसे —'शोणित-तर्पण'।

वातावरण

शून्य में चमकते हुए सितारे का सौंदर्य उसके पीछे का मुक्त नील गगन ही है। चित्र के लिये भी किसी पृष्ठ (Back ground)-भूमि की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार उपन्यास में भी पात्रों का चरित्र वातावरण द्वारा ही उभरता है। हम संसार में रहते हैं जो निरा शून्य नहीं है, वरन् भरा पूरा है। इसलिये उपन्यास के पात्रों को भी वातावरण की भूमिका पर ही खड़ा करना आवश्यक है। इस वातावरण के द्वारा ही उपन्यास में वास्तविकता की झलक आती है। वातावरण उपन्यास में वही कार्य करता है जो चित्र में छाया (Shade) और प्रकाश (light) करते हैं। वातावरण के द्वारा ही हमें घटनाओं और पात्रों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है।

वातावरण की सृष्टि जिन दो वस्तुओं के चित्रण से हो सकती है, वे हैं:

देश और काल

देश से तात्पर्य उस भू-भाग से है जहां घटनाएँ घटती हैं और काल से समय की उस अवधि से जिसके बीच में वह घटना-चक्र चलता है।

देश-चित्रण के भी दो भाग कर सकते हैं:

भौतिक-चित्रण और सांस्कृतिक-चित्रण

तथा काल के भी दो:

युग और समय

भौतिक-चित्रण के अन्तर्गत उस भू-भाग की, जहां से घटनाएँ सम्बन्ध रखती हैं, भौगोलिक तथा निर्माण-स्थिति आ सकती है।

भौगोलिक-स्थिति का चित्रण करते समय उपन्यासकार को बहुत सतर्क रहना चाहिये। उसे वहां के जल-वायु भूमि,

भौतिक-चित्रण

नदी-नाले, पर्वत-पठार, पेड़-पौधे, व्यापार, उपज आदि सब का सम्यक् ज्ञान होना चाहिये। केवल अनुमान के बल पर ही न चलना चाहिये अन्यथा वह केशवदास की तरह अयोध्या में ही लौंग और नारियल के वृक्ष लगा देगा। इस प्रकार की भौगोलिक-स्थिति का उचित और विस्तृत चित्रण होने से उपन्यास में वास्तविकता आ जावेगी। उस स्थान का चित्र पूरा पूरा हमारे सामने खिंच जावेगा, जहां पात्र अपनी जीवन-लीला दिखा रहे हैं।

निर्माण-स्थिति के चित्रण से तात्पर्य उस स्थान की बनावट आदि से है कि वह नगर या स्थान कैसा बना हुआ था, कैसे कोट-किले आदि थे, कैसे वहां के मकान थे और कैसी दूकानें। उपवन, सड़कें, तालाब, कुए आदि की क्या स्थिति थी। यदि किले का वर्णन है, तो वहां कैसी कैसी बुर्जें थीं, कैसे गुप्तद्वार थे। किसी मकान का चित्रण है तो वह कैसा सजा हुआ था, फर्नीचर आदि किस ढंग से जमा था, उसमें द्वार-खिड़कियां आदि किधर थीं। आदि। इन बातों का ऐतिहासिक उपन्यासों में बहुत महत्व होता है और इस ज्ञान के लिये उपन्यासकार को पुरातत्ववेत्ताओं का मुखापेक्षी होना पड़ता है।

देश का सांस्कृतिक चित्रण करते समय उपन्यासकार को उस देश की सभ्यता तथा संस्कृति की ओर ध्यान देना चाहिये। देश के

सांस्कृतिक-चित्रण

कौन से पर्व और उत्सव आदि हैं, उनका क्या महत्व है। देश की मूल संस्कृति की भित्ति धार्मिक है या भौतिक। किस जाति और वर्ण के लोगों की अधिकता है। वहां के लोगों के संस्कार किस प्रकार के हैं। आदि। यदि उपन्यासकार को इन बातों का अच्छा ज्ञान है तो वह न इंगलैंड

में किसी अंग्रेज को शिव का अभिषेक करते बतावेगा न भारत में किसी हिन्दुस्तानी को प्लेटफार्म पर अपनी बहिन को 'किस' करते।

युग से अर्थ समय की उस पूरी अवधि से है जिसके बीच में घटित होने वाली घटनाओं को उपन्यासकार अपनी रचना में स्थान देता है।

युग

यदि उपन्यासकार महाराणा प्रताप को अपने उपन्यास का नायक बनाता है तो उसे मुग़ल-युग का चित्र अंकित करना पड़ेगा। ऐसे चित्र अंकित करते समय लेखक को घटनाकालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक साहित्यिक सभी परिस्थितियों का ध्यान रखना पड़ेगा। उसे यह भी विचारना पड़ेगा कि उस युग-विशेष में क्या रीति-रिवाज तथा आचार-विचार थे। ऐसा नहीं कि वह किशोरीलाल गोस्वामी की तरह अकबर के सामने हुक्का रखदे। ऐसा करने से उसके इतिहास विषयक ज्ञान का अभाव खटकेगा और उसकी कृति का साहित्यिक-मूल्य भी न रहेगा।

इसी युग-चित्रण के अन्तर्गत लेखक घटनाकालीन समस्याओं तथा विचार-धाराओं का भी अङ्कन कर सकता है; किन्तु यहां केवल अङ्कन ही होना चाहिये। यदि लेखक उन पर अपना मत प्रकट करता है अथवा उनका हल देने का प्रयत्न करता तो वह 'वातावरण' के अन्तर्गत न आकर 'विचार और उद्देश्य' के अन्तर्गत चला जावेगा।

समय से हमारा तात्पर्य उन क्षणों से है जिनमें कोई घटना-विशेष घटती हैं। उस समय-चित्रण में प्रकृति तथा कार्य सम्पादन के ढंग

समय

दोनों से सहायता ली जा सकती है। उपयुक्त वातावरण–सृष्टि हेतु हमारे यहां प्रकृति-चित्रण द्वारा आगे होने वाली घटनाओं के लिये पहिले से ही भूमिका तैयार करदी जाती है। यदि उपन्यासकार को आगे किसी

सुखद घटना का अङ्कन करना है तो वह पहिले से ही प्रकृति का उल्लासमय चित्र खींचेगा, जिससे अगली घटना का सौन्दर्य और भी बढ़ जावेगा। इसके विपरीत यदि लेखक का ध्येय किसी भयंकर अथवा दुख पूर्ण घटना बताने का है तो उसके पूर्व ही वह कुछ भयानक एवं उदास प्रकृति को अङ्कित करेगा जिसके मेल से भावी घटना और भी भयंकर अथवा विषादमयी दिखाई पड़ने लगेगी। इसीलिये स्टीवेंसन लिखता है: "Certain dark gardens cry aloud for murder, Certain old houses demand to be haunted, Certain coasts are set apart for ship-wrecks." यह तो हुआ प्रकृति का पूर्व-पीठिका रूप में उपयोग।

इसके अतिरिक्त घटनाकालीन प्रकृति-चित्रण से घटनाओं का रूप और भी स्पष्ट हो जाता है। यह दो प्रकार से होता है:

प्रकृति का संवेदनात्मक चित्र और व्यंग्यात्मक चित्र

संवेदनात्मक-चित्र से तात्पर्य सुखद-घटना के समय प्रकृति को भी उल्लासपूर्ण एवं दुखद के समय विषादपूर्ण बताना तथा व्यंग्यात्मक-चित्र से तात्पर्य सुखद घटना के समय प्रकृति का रोता और दुखद के समय हँसता चित्र उपस्थित करना। इस प्रकार के व्यंग से प्रभाव में तीव्रता आजाती है। जिस प्रकार पति के शव के पास बैठी करुण-क्रन्दन करती हुई सती के आंगन में स्वच्छ-शीतल-चन्द्रिका का नृत्य व्यंग्यात्मक चित्र है और उसी समय आकाश में तारे का टूटते हुये दिखाना संवेदनात्मक।

कार्य-सम्पादन के ढंग पर प्रकाश डालने से भी चित्र में सजीवता आ जाती है। अमुक समय अमुक कार्य कैसे किया जा रहा था, मनुष्यों की उस समय शारीरिक एवं मानसिक क्या स्थिति थी आदि

वर्णन भी वातावरण-सृष्टि में सहायक होते हैं। जैसे श्री वृन्दावनलाल वर्मा की 'झांसी की रानी' में युद्ध-संचालन के ढंग पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है जिससे युद्ध का साकार चित्र खिंच जाता है।

यह देश-काल-चित्रण ऐतिहासिक उपन्यासों के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जो घटनाएँ हमारे पूर्व की होती हैं उनका सच्चा चित्र उपस्थित करने के लिये उन परिस्थितियों का चित्रण भी आवश्यक होता है, जिनमें वे घटी हैं। किन्तु जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है इस देश-काल वर्णन में ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहासज्ञों और पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर ही चलना चाहिये। प्रत्येक छोटी से छोटी बात का वर्णन करते समय भी बहुत सतर्क रहना चाहिये, ऐसा न हो कि वह वर्णन देश-काल के विपरीत पड़ जाय। यह कठिनाई वर्तमान युगीन उपन्यास लेखकों के सामने नहीं आती, क्योंकि उन्हें जो कुछ वर्णन करना होता है, वह उनके सामने होता है, भूल होने की संभावना ही नहीं रहती। ऐतिहासिक उपन्यास का महत्त्व तो उसके वातावरण में ही है। प्रागैतिहासिक उपन्यास लेखकों के लिये यह कार्य और भी कठिन है।

इस वातावरण-चित्रण में उपन्यासकार को यह ध्यान रहे कि यह उपन्यास-रचना के लिये साधन है साध्य नहीं। जहां लेखक सीमा छोड़कर अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विस्तृत वर्णन करने बैठ जाता है, वहां पाठक का मन ऊब जाता है और या तो वह उपन्यास रख देता है या उन पन्नों को पलट देता है। इसलिये वातावरण-चित्रण वहीं तक होना चाहिये जहां तक वह रचना में सौन्दर्य और वास्तविकता ला सके।

विचार तथा उद्देश्य

यह संसार रहस्यों का भंडार है। इसके प्रति प्रत्येक मनुष्य का अपना अपना दृष्टिकोण होता है। जब उपन्यासकार अपने उपन्यास

में उस जीवन के चित्र अङ्कित करने लगता है तो उसकी कलाकृति में उसका अपना दृष्टिकोण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो ही जाता है। "कला कला के लिये" सिद्धान्तवादियों का कहना है कि कलाकार को रचना करते समय अपना कोई विचार-विशेष या उद्देश्य लेकर न चलना चाहिये। किन्तु यह एक असम्भव सी बात है कि उपन्यासकार जीवन का चित्र खींचता रहे और उसमें उसके विचार प्रतिध्वनित न हों। कलावादी साहित्य के 'शिवम्' होने से चाहे सहमत न हों किन्तु उसे 'सत्यं सुन्दरम्' तो वे भी मानते हैं। जहां कलाकार अपनी कृति को सत्यं सुन्दरम्' बनाने की चेष्टा करेगा वहां उसका दृष्टिकोण अपने आप उसमें आ जावेगा। संभव है संसार जिसे असुन्दर समझता है उसे वह सुन्दर समझकर अपनी रचना में स्थान दे अथवा संसार जिसे सुन्दर समझता है उसे असुन्दर समझकर वह छोड़दे। क्योंकि किसी वस्तु का सुन्दर असुन्दर लगना तो मनुष्य की अपनी अपनी रुचि का प्रश्न है; जैसा कि बिहारी ने कहा है —

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ॥

इसलिये यह कहना कि किसी कलाकृति में कलाकार के विचार अथवा उसके पीछे कोई उद्देश्य होना ही नहीं चाहिये, एक व्यर्थ सी बात है। उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द जी स्वयं इस पक्ष में थे कि उपन्यास के पीछे लेखक का एक निश्चित उद्देश्य होना चाहिये। उन्होंने लिखा है —

"हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। कला के लिये कला का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम

ांति भांति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों से जकड़े हुए हैं, जधर निगाह उठती है उधर दुख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखलाई देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनाई देता है तो कैसे भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।"

मनुष्य-जीवन का भी एक उद्देश्य है। हमारे यहां तो जीवन के र्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चार उद्देश्य माने गये हैं। फिर उद्देश्य की अवहेलना करना सत्य से विमुख होना है।

उपन्यास में लेखक के विचारों की अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है:

ध्वन्यात्मक तथा व्याख्यात्मक।

लेखक के जो विचार घटना, क्रिया-कलाप आदि द्वारा ध्वनित ोते हों उन्हें हम ध्वन्यात्मक कह सकते हैं। ये विचार उपन्यास के कलेवर में लिपटे रहते हैं। उपन्यासकार तो घटनाओं, पात्रों के कार्य आदि को चित्रित भर कर देता है। उनके पीछे लेखक का कौनसा दृष्टिकोण कार्य कर रहा है अथवा उनके द्वारा लेखक किस विचारधारा का प्रतिपादन करना चाहता है यह देखना आलोचक का कार्य है। इसमें पाठकों को अपनी ल्पना शक्ति के उपयोग का पूरा अवसर मिलता है और ऐसी अवस्था ं आलोचक अपने अपने दृष्टिकोण से लेखक के विचारों को समझने था उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। विचारों के प्रकटीकरण ा यह ढंग सर्वोत्तम एवं स्वाभाविक है।

विचारों की ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति

व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है:

पात्रों द्वारा और उपन्यासकार द्वारा

विचारों की पात्रों द्वारा अभिव्यक्ति

पात्र अपने वार्तालाप में कई प्रकार के विचार प्रकट कर जाते हैं। कई बार तो ये विचार सूक्तियों के रूप में भी बिखरे पड़े रहते हैं। इस प्रकार की सूक्तियों का कोष भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' है। वहां तो पग पग पर आपको ऐसी विचारात्मक सूक्तियां मिलेंगी। ये पात्रों द्वारा व्यक्त किये गये विचार लेखक के ही होते हैं; क्योंकि पात्र तो केवल 'रेकार्ड' हैं जिनमें विचार तो लेखक ही भरता है, वे तो समय समय पर उन्हें निकालते रहते हैं।

विचारों की उपन्यासकार द्वारा अभिव्यक्ति

कई स्थानों पर उपन्यासकार स्वयं भी जीवन की व्याख्या करता चलता है। किन्तु इस प्रकार की व्याख्या में उसे बहुत संयम से काम लेना चाहिये। जहां वह अधिक स्पष्ट हो जाता है वहां हम उसे उपन्यासकार न कहकर उपदेशक कहने लगते हैं। आचार्य शुक्ल जी ने प्रेमचन्दजी के लिये 'उपदेशक' शब्द ही कहा था; क्योंकि प्रेमचन्द जी अपने उपन्यासों में लम्बे चौड़े व्याख्यान देने बैठ जाते थे। ऐसा करने से उपन्यास की स्वाभाविक गति में बाधा पहुंचती है और वह रचना केवल नीति-ग्रन्थ या प्रचार-ग्रन्थ बन जाती है। आजकल के कई लेखक इस प्रकार की रचनाओं में संलग्न हैं; जैसे—यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, अंचल आदि।

हमने घटनाकालीन समस्याओं को वातावरण के अन्तर्गत लिया है; किन्तु वातावरण उपस्थित करने के लिये उन समस्याओं का यथार्थ चित्रण मात्र पर्याप्त है। यदि लेखक उस चित्रण के साथ साथ अपना मत अथवा उनका हल भी देता चलता है तो वह चित्रण उद्देश्य की सीमा में आजावेगा।

इन समस्याओं के सम्बन्ध में दो मत हैं। कुछ लोगों का तो विचार है कि उपन्यासकार को केवल शाश्वत समस्याओं का ही अंकन करना चाहिये, किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि सामयिक समस्याओं का चित्रण भी अनुपयुक्त नहीं है। जो लोग सामयिक समस्याओं के विरोधी हैं उनका विचार है कि ऐसी कृतियां जिनमें केवल सामयिक समस्याएँ ही होंगी, उन समस्याओं के हल हो जाने पर, किसी मूल्य की न रहेंगी। ऐसा साहित्य स्थायी-साहित्य नहीं बन सकता। साहित्य ऐसा होना चाहिये जो युग युग का हो और ऐसा साहित्य केवल शाश्वत-समस्याओं को लेकर चलने वाला ही हो सकता है। इस सम्बन्ध में हमारा तो यह मत है कि साहित्य युग की प्रतिध्वनि है। साहित्य - स्रष्टा युग की उपेक्षा करके नहीं चल सकता। साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। इसलिये साहित्य में सामयिक -समस्याओं का आना स्वाभाविक है तथा समाज के लिये हितकर भी। केवल हठात् सामयिक समस्याओं की अवहेलना करते हुए शाश्वत-समस्याओं मात्र को लेकर चलना वास्तविकता से पलायन होगा और उस साहित्य की दशा वही होगी जो आज छायावादी कविता की हुई। अतः सामयिक और शाश्वत दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण ही किसी कृति को मूल्यवान बना सकता है।

शाश्वत एवं सामयिक समस्याएँ

एक प्रश्न और है। वह है आदर्श और यथार्थ का। आदर्श और यथार्थ का चरित्रों से जहां तक सम्बन्ध है उसका विवेचन तो चरित्र-चित्रण शीर्षक के अन्तर्गत हो चुका है। यहां तो हमें यह देखना है कि लेखक अपने उपन्यास में यथार्थ का प्रतिपादन करे या आदर्श का। संसार में हम नित्य ही देखते हैं कि न सदैव भले का फल भला ही होता है, न बुरे का बुरा ही। न प्रत्येक दुष्ट को फांसी का तख्ता ही

आदर्श और यथार्थ

मिलता है, न प्रत्येक सज्जन को हाथी ही। किन्तु कभी कभी तो ठीक विपरीत हो जाता है — और आजकल तो ऐसा अधिकांश में हो ही रहा है। इसलिये इस युग के उपन्यासकार के लिये भी यह बड़ा कठिन हो जाता है कि वह सत् का परिणाम सत् ही दिखावे अथवा असत् भी। यदि सत् का परिणाम सदैव सत् और असत् का असत् ही दिखाया जावेगा तो आदर्शवाद होगा; किन्तु सदैव ऐसा होता नहीं है। कभी सत् का असत् और असत् का सत् भी हो जाता है; इसलिये ऐसा चित्रण करना यथार्थ माना जावेगा।' किन्तु ऐसा यथार्थ चित्रण भी समाज के लिये विनाशकारी सिद्ध होगा। पाठक यह देखकर कि गन्ना भी कोल्हू में पीसा जाता है, इस संसार से विमुख हो सकता है अथवा यह देखकर कि दुष्ट अपनी दुष्टता के बल पर ही घेवर-माँड़े उड़ाता रहता है, वह भी दुष्टता की ओर प्रवृत्त हो सकता है। इसलिये न घोर यथार्थ चित्रण समाज के लिये हितकर है न घोर आदर्श स्वाभाविक। अतः कुशल उपन्यासकार को इनका सम्यक सन्तुलन करके ही चलना चाहिये। तब ही उसकी रचनाओं में चमत्कार भी आ सकता है और वे समाज के लिये स्वास्थ्य-प्रद भी हो सकती हैं।

काव्यत्व

जब हम उपन्यास को साहित्य का एक अंग मानते हैं तो उसके लिये भी वे सारे तत्व आवश्यक हो जाते हैं जो साहित्य के लिये हैं।

आवश्यकता

साहित्य और काव्य शब्द एक प्रकार से पर्याय-वाची से हो रहे हैं और काव्य के लिये हमारे यहां 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहा गया है। अतः उपन्यास के लिये रसात्मकता अनिवार्य हो गई। रस के लिये लिये भाव और कल्पना आवश्यक हैं। यद्यपि पश्चिम में उपन्यासों के लिये विचारों को ही प्रधान माना है; किन्तु हमारे यहां के साहित्य

के लिये विचार के साथ साथ भाव भी आवश्यक हैं, वरन् यों कहिये साहित्य में तो भाव की ही प्रधानता है विचार तो सहायक मात्र हैं। जब कि उपन्यास को हम जीवन का चित्र मानते हैं तो उसमें व्यक्ति के वाह्य क्रियाकलाप के साथ उसके आन्तरिक भावों का भी उतना ही महत्व है। जब तक उसमें मानव सुलभ राग, द्वेष, प्रेम, करुणा, हर्ष, विषाद, क्रोध, घृणा, ईर्षा आदि मनोविकारों का समावेश न होगा, वह मानव जीवन का रंगीन चित्र नहीं हो सकता, केवल रेखा-चित्र भले ही हो जावे।

पहले कहा जा चुका है कि महाकाव्य और उपन्यास में विशेषकर शैली का ही भेद है; एक पद्यात्मक है दूसरा गद्यात्मक। इस दृष्टि से भी उपन्यास में वे सभी रस और भाव आ सकते हैं—और आते भी हैं—जो महाकाव्यों में होते हैं। यदि उपन्यास के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह बात और भी पुष्ट हो जावेगी। "प्रारम्भिक काल के कौतूहल वर्धक जासूसी और तिलस्मी उपन्यासों में अद्भुत रस का प्राधान्य था। आजकल के राजनीतिक उपन्यासों में करुणा-जनक परिस्थिति दिखाकर उसको मिटाने के लिये उत्साह का संचार किया जाता है। ...कभी कभी उपन्यास में पूँजीवाद या साम्राज्यवाद के प्रति घृणा भी उत्पन्न की जाती है। वहां भी वीभत्स रस की प्रधानता होती है......।"* इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यासों के लिये काव्यत्व अत्यन्त अनिवार्य तत्व है। यदि इसे अनिवार्य न मानें तो ऐतिहासिक उपन्यास और इतिहास में तो कोई अन्तर ही न रह जावेगा। इन दोनों में तो अन्तर ही कल्पना का ही है जो काव्य का एक अंग है।

इसके अतिरिक्त उपन्यासकार अपनी भाषा को चमत्कार-पूर्ण बनाने के लिये उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों; प्रसाद, ओज,

---

* सिद्धान्त और अध्ययन—द्वितीय भाग।

माधुर्य गुणों; लक्षणा व्यञ्जना आदि शक्तियों का भी प्रयोग करते हैं, जो काव्य के ही उपकरण हैं।

साथ ही उपन्यासों में हमें कई बड़े भावुकता-पूर्ण स्थल भी मिलते हैं, जहां पाठक का हृदय रमजाता है। यह रमणीयता काव्य-जन्य ही होती है।

हिन्दी के कुछ उपन्यास तो ऐसे भी मिलते हैं जिनमें इस काव्यत्व का ही प्राधान्य है, जिनमें लेखकों का ध्यान कवित्व-पूर्ण व्यंजना पर ही विशेष रहा है। जैसे—प्रसाद का 'कंकाल', चण्डीप्रसाद हृदयेश के 'मंगलप्रभात', 'मनोरमा' आदि। उनकी भाषा भी कोमल-कान्त-पदावली युक्त एवं चरित्र-चित्रण भी बड़े भावुकतामय हैं।

अतः उपन्यास में काव्यत्व का होना अत्यन्त अनिवार्य है, अन्यथा वह या तो नीरस जीवनी हो जावेगा या शुष्क इतिहास।

उपन्यासों के प्रकार



आज हिन्दी- साहित्य का उपन्यास-अंग सबसे अधिक समृद्धशाली है। जब साहित्य बढ़ता है तो उसमें विविधता भी बढ़ती जाती है। इसी विविधता के कारण हम उपन्यासों के कई दृष्टि-कोणों से वर्गीकरण कर सकते हैं।

जैसा पहले कह आये हैं कथावस्तु तीन प्रकार की होती है प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। इन्हीं भेदों के आधार पर 'प्रख्यात' वस्तु वाले ऐतिहासिक, 'उत्पाद्य' वाले कल्पित और 'मिश्र' वाले अर्धैतिहासिक उपन्यास कहे जा सकते हैं।

कुछ विद्वान उपन्यासों को विषय की दृष्टि से राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, भौगोलिक, प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक, रोमेण्टिक आदि अनेक भागों में विभक्त करते हैं।

कभी कभी परिणाम की दृष्टि से यथार्थवादी, आदर्शवादी, सुखान्त, दुखान्त, विषादान्त आदि भेद भी किये जाते हैं। इसी प्रकार शैली-भेद से वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक पत्रात्मक आदि प्रकार भी होते हैं।

अपने एक लेख में स्टीवेंसन ने तीन प्रकार के उपन्यास बताये हैं—घटनाप्रधान, चरित्र प्रधान और भाव प्रधान। उसके मतानुसार घटना-प्रधान उपन्यास ही सर्व श्रेष्ठ होते हैं।

आजकल जो प्रचलित मत है उसके अनुसार उपन्यासों के चार मुख्य भेद माने गये हैं :

१—घटना प्रधान, २—चरित्र-प्रधान, ३—नाटकीय और ऐतिहासिक।

घटना-प्रधान

घटना-प्रधान उपन्यासों में घटनाओं पर ही अधिक बल रहता है। लेखक कई घटनाओं का अपने उपन्यास में समावेश करता है और घटनाओं का ऐसा जाल सा बिछ जाता है कि पाठक अपने आपको उस भूल-भुलैयां में भुला देता है। यह घटना-वैचित्र्य ही इन उपन्यासों की विशेषता है। उनमें पात्रों के चरित्र की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। इनमें घटनाओं में कोई विशेष कार्य-कारण सम्बन्ध भी नहीं होता। इनका सबसे प्रधान गुण है जिज्ञासा, जिसे हम प्रारम्भ में ही कहानी की मूल प्रेरणा कह आये हैं। इनमें पाठक का कौतूहल क्रमशः बढ़ता जाता है। एक घटना का परिणाम नहीं निकलता उसके पहले दूसरी आ उपस्थित होती है। इसमें पाठक यह जानने को उत्सुक रहता है कि 'फिर क्या हुआ'। इनमें चरित्रों और घटनाओं में अन्योन्याश्रित-सम्बन्ध नहीं होता। प्रारम्भिक उपन्यासों में तो असम्भव से असम्भव घटनाओं का भी समावेश होता था और कभी कभी लेखक अतिप्राकृत भावना का भी आश्रय ले लेते थे। इस प्रकार उन उपन्यासों में स्वाभाविकता नहीं होती थी।

इस प्रकार के घटना प्रधान उपन्यासों में मुख्यतः तीन प्रकार के उपन्यास मिलते हैं : तिलस्मी, जासूसी और साहसिक।

तिलस्मी उपन्यासों में विचित्र प्रकार के भवनों और तलघरों के वर्णन होते थे। इनका आधार प्रेम होता था। ऐयारों का इनमें

विशेष स्थान था, जो बड़े कुशल, बुद्धिमान और वैज्ञानिक होते थे। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता-संतति आदि इसी प्रकार के उपन्यास हैं।

जासूसी उपन्यासों में किसी रहस्यपूर्ण षड्यंत्र, जैसे चोरी, डाका हत्या, आदि की खोज के लिये जासूस छोड़े जाते थे। इन जासूसों का कमाल देखने योग्य होता था। आधुनिक वैज्ञानिक सूक्ष्म-निरीक्षण इन उपन्यासों की विशेषता होती थी। गोपालराम गहमरी इस कला के अग्रदूत माने जा सकते हैं। 'हत्या का रहस्य', 'मेम की लाश', 'जासूस की जवानी' आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

साहसिक उपन्यासों में डाकुओं और षड्यंत्रकारियों के कारनामे होते थे। इनमें से कुछ उपन्यासों में भारत को स्वतन्त्र कराने के लिये कुछ उत्साही नवयुवकों द्वारा चलाये गये हिंसात्मक आन्दोलनों के भी चित्र मिलते हैं। इनमें मृत्यु-किरण, बम आदि के भी बड़े आश्चर्यजनक वैज्ञानिक आविष्कार दिखाये गये हैं।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों में घटनाओं का उतना महत्व नहीं रहता जितना चरित्र का। कुछ विद्वान चरित्र-प्रधान और नाटकीय उपन्यासों को अलग-अलग मानते हैं। उनका कहना है कि "चरित्र-प्रधान उपन्यासों के पात्रों के गुण स्थिर रहते हैं, बढ़ते घटते नहीं। जिस प्रकार का व्यवहार वे उपन्यास के आरम्भ में करते हैं, ठीक वैसा ही अन्त में भी करते हैं। परन्तु नाटकीय उपन्यासों के पात्रों में विकास होता रहता है, वे गतिशील होते हैं।"* इस कथन पर यदि विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि यह अन्तर तो चरित्र का ही हुआ। हम पूर्व प्रकरण में देख आये हैं कि चरित्र दो प्रकार के होते हैं —

चरित्र-प्रधान

* श्री शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी-उपन्यास

स्थिर और गतिशील। उपन्यासों के जिस दृष्टि से ये चरित्र प्रधान और नाटकीय दो भेद किये गये हैं उसके मूल में यही चरित्रों की स्थिरता और गतिशीलता ही दिखाई पड़ती है, जो चरित्रों की ही विशेषता है। इस सम्बन्ध में एक यह भी तर्क दिया जाता है कि नाटकीय उपन्यासों में न चरित्र की ही प्रधानता होती है, न घटनाओं की ही। उसमें तो कभी चरित्र की विशेषता के कारण घटनाएँ बन जाती हैं और कभी घटनाओं के कारण चरित्र। यदि इसे भी मानलें तो भी विचार करने से ज्ञात होगा कि इस कार्य में भी प्रधानता चरित्र की ही रहती है। प्रधानता से तात्पर्य यह नहीं है कि चरित्र वैसे ही बने रहते हैं; किन्तु प्रधानता का यह अर्थ है कि वहां भी चरित्र ही सब कुछ होते हैं। यदि घटनाओं को बनाते बिगाड़ते हैं तो वे और यदि स्वयं बनते बिगड़ते हैं तो वे। ऐसी स्थिति में चरित्र-प्रधान और नाटकीय ये दो नाम न देकर यदि दोनों प्रकार के उपन्यासों को, जिनमें से प्रथम में चरित्र स्थिर होते हैं और दूसरे में गतिशील, चरित्र-प्रधान ही कहा जावे और फिर चरित्रों की स्थिरता और गतिशीलता के आधार पर उनके 'स्थिर-चरित्र-उपन्यास' और 'गतिशील-चरित्र-उपन्यास' इस प्रकार दो भेद किये जावें तो अधिक युक्ति-संगत होगा।

स्थिर-चरित्र-उपन्यासों में घटनाओं का कोई पूर्व निश्चित क्रम नहीं होता; किन्तु पात्र स्वयं उनका निर्माण करते चले जाते हैं।

स्थिर-चरित्र-उपन्यास

इनके चरित्रों में एक-रसता रहती है। उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। वे उपन्यास के प्रारम्भ में जैसे दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही अन्त में भी। जैनेन्द्र का 'सुनीता' उपन्यास इसी प्रकार का है।

गतिशील-चरित्र-उपन्यासों में चरित्रों और घटनाओं में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहता है। कभी चरित्र घटनाओं का निर्माण

करते हैं और कभी घटनाएँ चरित्रों का। इस प्रकार चरित्रों और घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार के उपन्यास सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं; क्योंकि उनमें स्वाभाविकता अधिक होती है। आजकल ऐसे ही उपन्यास अधिक लिखे जा रहे हैं।

गतिशील-चरित्र-उपन्यास

वातावरण वैसे होता तो सभी उपन्यासों में है; किन्तु जिन उपन्यासों का कथानक इतिहास से सम्बन्धित होता है, उनमें इसकी विशेषता रहती है। ऐतिहासिक उपन्यासों के लिये ऐतिहासिक कथावस्तु का होना तो आवश्यक है ही तथा उसमें यथासम्भव घटनाएँ और चरित्र भी होते ही हैं; किन्तु इनके अतिरिक्त उनका एक विशेष उद्देश्य होता है—अतीत के चित्र को साकार उपस्थित कर देना। पाठकों को विगत-काल की झलक उस समय के आचार-विचार, रीति-नीति, सभ्यता-संस्कृति, सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक, धार्मिक, आर्थिक, भौगोलिक स्थिति तथा तत्कालीन प्रथाओं आदि के विस्तृत चित्रण द्वारा ही मिल सकती है। इसलिये अपने कथानक को वास्तविकता का रूप देने के लिये उपन्यासकार को देश-काल का बड़ा विस्तृत एवं सजीव चित्रण करना पड़ता है। वर्तमान-युग के कथानक में वास्तविकता लाना सरल है; किन्तु प्राचीन-युग के कथानक में वास्तविकता लाना कठिन है और वह केवल वातावरण-चित्रण द्वारा ही आसकती है।

ऐतिहासिक

ऐतिहासिक-उपन्यास के भी दो भेद किये जा सकते हैं :

शुद्ध-ऐतिहासिक और अर्धैतिहासिक

जिन उपन्यासों का कथानक विशुद्ध ऐतिहासिक हो अर्थात् उनकी घटनाएँ, पात्र, वातावरण आदि सभी इतिहास-सिद्ध हों,

उन्हें शुद्ध ऐतिहासिक - उपन्यास कहना चाहिये । ऐसे उपन्यास हिन्दी में बहुत ही कम हैं। वास्तव में

शुद्ध ऐतिहासिक

देखा जावे तो ऐतिहासिक-उपन्यासों का श्री गणेश श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने ही किया। उनके 'झांसी की रानी', 'गढकुंडार' आदि शुद्ध-ऐतिहासिक उपन्यास कहे जा सकते हैं।

जैसी की पूर्व प्रकरण में 'मिश्र' कथानक की विवेचना की गई है उसके आधार पर ऐसे उपन्यासों को, जिनमें इतिहास और कल्पना दोनों का समान योग रहता है, यदि अर्धैतिहासिक

अर्धैतिहासिक

कह दिया जावे तो अनुचित न होगा। वहां उदाहरण स्वरूप जिन 'विराटा की पद्मिनी', 'वीर मणि', 'रानी दुर्गावति' आदि के नाम दिये गये हैं उन्हें इसी श्रेणी में रक्खा जा सकता है।

काव्यत्व प्रत्येक उपन्यास के लिये अनिवार्य है किन्तु यह अनिवार्यता जिन उपन्यासों में अपनी सीमा से आगे बढ़ जाती है उनमें उपन्यासकार का ध्यान घटनाओं, चरित्र चित्रण,

भाव-प्रधान

वातावरण आदि पर न रहकर केवल पात्रों की भावनाओं एवं हृदयोद्गारों को कवित्व पूर्ण शैली में व्यक्त करने की ओर ही लग जाता है । ऐसे उपन्यास उपन्यास न रहकर गद्य-काव्य बन जाते हैं। वहां भावों की व्यञ्जना ही सबकुछ रह जाती है। कई स्थानों पर उपन्यासकार स्वयं भावुकता में बह जाता है। यद्यपि ऐसे उपन्यास हिन्दी में कम हैं तथापि प्रसाद के 'कंकाल'; चण्डीप्रसाद हृदयेश के 'मङ्गल-प्रभात', 'मनोरमा'; व्रजनंदन-सहाय के 'सौन्दर्योपासक' में यह छटा देखने को मिलती है। ऐसे कवित्वमय उपन्यासों को 'भाव-प्रधान' कहा जा सकता है।

पुराणों की कहानियां एक प्रकार की रूपक हैं। जो सिद्धान्त समझाने - सिखाने से मनुष्य की समझ में नहीं आता वह किसी उदाहरण द्वारा तत्काल समझ लिया जाता है।

रूपक

अब तक जिन कहानियों की चर्चा हुई है, उन्हें हम वास्तव में कहानियां नहीं कह सकते। उक्त ग्रन्थों में रचनाकार का मूल ध्येय कहानी कहना नहीं रहता था, वरन् वे तो प्रसंगवश बीच बीच में आ जाती थीं। वास्तव में देखा जावे तो कहानियों का उद्‌गम हितोपदेश, पंचतंत्र, बृहत्कथा, कथासरित्सागर, जातक आदि से हुआ। इनके रचयिता वास्तव में कहानियां कहने ही बैठे थे। इन कथाकारों का मूल ध्येय नीति की शिक्षा देना रहा है। इसके लिये उन्होंने मानव-व्यापरों को ही नहीं चुना; वरन् पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आदि तक को मानव-रूप में चित्रित कर दिया। इनमें लौकिक, अलौकिक सब प्रकार की घटनाओं के वर्णन हैं जो बड़े कौतूहल-जनक हैं। जातक-कथाओं में एक ही महापुरुष के कई जन्मों की कथाएँ हैं।

नीति-कथाएँ

इनसे आगे जब हम बढ़ते हैं तब हमें नीति और उपदेशों से मुक्त विशुद्ध-साहित्यिक कथाओं के दर्शन होते हैं। दण्डी कृत 'दशकुमारचरित', सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता', बाण कृत 'कादम्बरी' आदि संस्कृत की प्रेम-कथाएँ हैं। इनकी भाषा अत्यन्त क्लिष्ट एवं अलंकृत तथा काव्यमयी है।

साहित्यिक आख्यायिकाएँ

संस्कृत के इस कथा-साहित्य के सिंहावलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद से लगाकर लगभग ७वीं ८वीं शताब्दी तक जितना कथा-साहित्य रचा गया उसमें मुख्यतः चार विचार-धाराएँ कार्य कर रही थीं —

पुराणों की कहानियां एक प्रकार की रूपक हैं। जो सिद्धान्त समझाने - सिखाने से मनुष्य की समझ में नहीं आता वह किसी उदाहरण द्वारा तत्काल समझ लिया जाता है।

रूपक

अब तक जिन कहानियों की चर्चा हुई है, उन्हें हम वास्तव में कहानियां नहीं कह सकते। उक्त ग्रन्थों में रचनाकार का मूल ध्येय कहानी कहना नहीं रहता था, वरन् वे तो प्रसंगवश बीच बीच में आ जाती थीं। वास्तव में देखा जावे तो कहानियों का उद्गम हितोपदेश, पंच-तंत्र, बृहत्कथा, कथासरित्सागर, जातक आदि से हुआ। इनके रचयिता वास्तव में कहानियां कहने ही बैठे थे। इन कथाकारों का मूल ध्येय नीति की शिक्षा देना रहा है। इसके लिये उन्होंने मानव-व्यापरों को ही नहीं चुना; वरन् पशु-पक्षी, पेढ़-पौधे आदि तक को मानव-रूप में चित्रित कर दिया। इनमें लौकिक, अलौकिक सब प्रकार की घटनाओं के वर्णन हैं जो बड़े कौतूहल-जनक हैं। जातक-कथाओं में एक ही महापुरुष के कई जन्मों की कथाएँ हैं।

नीति-कथाएँ

इनसे आगे जब हम बढ़ते हैं तब हमें नीति और उपदेशों से मुक्त विशुद्ध-साहित्यिक कथाओं के दर्शन होते हैं। दण्डी कृत 'दशकुमार-चरित', सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता', बाण कृत 'कादम्बरी' आदि संस्कृत की प्रेम-कथाएँ हैं। इनकी भाषा अत्यन्त क्लिष्ट एवं अलंकृत तथा काव्यमयी है।

साहित्यिक आख्यायिकाएँ

संस्कृत के इस कथा-साहित्य के सिंहावलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद से लगाकर लगभग ७वीं ८वीं शताब्दी तक जितना कथा-साहित्य रचा गया उसमें मुख्यतः चार विचार-धाराएँ कार्य कर रही थीं —

१—वीर-पूजा की भावना, २ उपदेश-भावना
३—कौतूहल भावना और ४ प्रेम भावना।

आगे ये ही प्रवृत्तियाँ हिन्दी के कथा-साहित्य में परिलक्षित हुईं। १२वीं १३वीं शताब्दी में रासो के रूप में वीर-पूजा की भावना एवं प्रेम-भावना के दर्शन हुये। आगे चलकर १६वीं शताब्दी में सूफी कवियों के प्रबन्ध काव्यों में केवल प्रेम-भावना ही कार्य कर रही थी।

लोक-वार्ताएँ

जिस समय हिन्दी अपनी शिशु अवस्था में घुटनों के बल चलने ही लगी थी उस समय साधारण जनता तोता-मैना, सारंगा-सदावृक्ष, छबीली-भटियारिन, किस्सा साढ़े तीन यार, सिंहासन बत्तीसी, बैताल-पचीसी आदि की कहानियों से अपना मनोरंजन कर रही थी। उनमें से सिंहासन-बत्तीसी, बैताल-पचीसी आदि पर तो उसी प्राचीन उपदेश भावना का ही रंग था; किन्तु छबीली-भटियारिन, सारंगा-सदावृक्ष आदि में प्रेम भावना के साथ कुछ व्यक्तिगत चरित्रों की झलक भी दिखाई देने लगी थी, यद्यपि ये चरित्र होते अस्वाभाविक थे।

इसी समय इन्शाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' (सं० १८५०—६०) की रचना की। वास्तव में देखा जावे तो इसी रचना को हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का बीज कहना चाहिये। यह एक प्रेम-कथा है जिसमें लेखक ने रानी केतकी और उदयभानु के चरित्रों पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। यद्यपि यह उपन्यास न होकर कहानी रूप में ही है तथापि उपन्यास के विकास पर विचार करते समय इसे भुलाया नहीं जा सकता।

बीज

अब तक की कथा कहानियों में केवल घटना-वैचित्र्य मात्र होता था जिसका आधार या तो प्रेम होता था या उपदेश। उनमें चरित्र-

चित्रण, वातावरण, कथोपकथन आदि, जो आधुनिक उपन्यासों के तत्त्व हैं, उनका पूर्ण अभाव था।

इसी समय बँगला के द्वारा धीरे धीरे अंग्रेजी का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ने लगा। पश्चिम में १७वीं शताब्दी में आधुनिक उपन्यास का जन्म हो चुका था। उस कला का प्रभाव बँगला पर पड़ा और बंगला में उस नवीन शैली पर कई उपन्यास लिखे गये। हिन्दी के लेखक भी उस कला से प्रभावित हुए। इसलिये सबसे पहले बँगला उपन्यासों के हिन्दी में अनुवाद होने प्रारम्भ हुए। बीसवीं शती के द्वितीय और तृतीय चरण में बँगला उपन्यासों के अनुवादों की झड़ी लगी रही। बंकिमचन्द्र, शरत्बाबू, रमेशचन्द्र दत्त, रवीन्द्र बाबू आदि सभी प्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकारों के उपन्यास अनुवादित कर लिये गये। इन अनुवादकों में भारतेन्दु बाबू, श्री राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, रूपनारायण पांडेय, बाबू गदाधरसिंह आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

बँगला-अनुवाद

इस प्रकार अनुवादों द्वारा हिन्दी लेखकों के सामने उपन्यास का नया ढांचा सामने आया। वास्तव में देखा जावे तो आधुनिक उपन्यासों में प्राण तो यद्यपि भारतीय ही हैं; किन्तु उनका रूप पूर्णतया पश्चिम की देन है।

इसी भारतीय आत्मा और पाश्चात्य रूप को लेकर सर्व प्रथम ला० श्रीनिवासदास ने सं० १८८२ में 'परीक्षा-गुरू' नामक उपन्यास की रचना की। यही कृति हिन्दी-उपन्यासों की मूल है। सच्चे अर्थों में हम हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास इसी को कह सकते हैं। इस पर हितोपदेश और पंचतंत्र आदि की उपदेशात्मक शैली का प्रभाव है।

प्रथम-उपन्यास

इसके आगे जितने भी उपन्यास लिखे गये उन्हें हम एक प्रकार से उपदेशात्मक- उपन्यास कह सकते हैं। इन उपन्यासों में नैतिक शिक्षा के साथ तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों पर हास्य-व्यङ्ग के छींटे भी होते थे। इन में व्यक्ति पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना समाज पर। बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन - ब्रह्मचारी', सौ अजान एक सुजान' आदि उपन्यासों में सामाजिक रूढ़ियों को दूर करने का उपदेश है तथा राधाकृष्णदास के 'निस्सहाय हिन्दू' में गो रक्षा-आन्दोलन का चित्रण।

उपदेशात्मक उपन्यास

इस युग में ठा० जगमोहनसिंह अपनी नई शैली लेकर आये। इनका 'श्यामा-स्वप्न' एक भाव प्रधान उपन्यास है।

संस्कृत की वृहत्कथा, कथा सरित्सागर, हितोपदेश आदि की जो कौतूहल प्रवृत्ति थी वह फारसी की 'अलिफ-लैला' में होती हुई समय पाकर हिन्दी में भी प्रकट हुई। जिसके फल-स्वरूप देवकीनन्दन खत्री (सं० १९१८-७०) के 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता - सन्तति' आदि तिलस्मी उपन्यासों की रचना हुई। इसी समय गोपालराम गहमरी ने गेरुआ बाबा, 'हत्या का रहस्य', 'मेम की लाश', 'जासूस की जवानी' आदि जासूसी उपन्यास लिखे। इन तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता होती थी। कई संभावित असंभावित घटनाओं का जालसा बिछा रहता था। ये रचनाएँ मूलतः कौतूहल-वर्धक हुआ करती थीं। इनमें कल्पना का मनमाना प्रयोग होता था। हिन्दी के इन जासूसी उपन्यासों पर अंग्रेजी के फिलिप ओपेनहम, शेरलॉक होम्स, एडगर आदि उपन्यासकारों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था।

कौतूहल वर्धक उपन्यास

अब तक बँगला के कई सुन्दर सुन्दर सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद हिन्दी में हो चुके थे। अतः तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों के साथ ही किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १९२२—८९) सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लेकर हिन्दी जगत में उतरे।

प्रेमाख्यानक उपन्यास

इनके सामाजिक उपन्यासों में प्रेम और विलास के चित्र अधिक हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में काल-दोष बहुत अधिक हुआ है। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि गोस्वामी जी ने जितनी अधिक संख्या में उपन्यास लिखे उतने अन्य किसी ने नहीं। इनके उपन्यासों पर रीतिकालीन प्रभाव बहुत अधिक था। इन्होंने जो एक विशेष कार्य किया वह है उपन्यास पर नाटकीय कला के विविध गुणों का आरोप। कुसुम कुमारी, लवंगलता, चपला, तारा, त्रिवेणी आदि इनके अति प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

गोस्वामी जी के उपन्यासों पर जो नाट्यकला का प्रभाव था वह संस्कृत के आधार पर था; किन्तु उनके पश्चात् के रामलाल वर्मा आदि लेखकों ने पारसी थियेटरों तथा उर्दू काव्यों का अनुकरण किया। इन्हीं 'थियेट्रिकल' उपन्यासों से हिन्दी-उपन्यासों में वातावरण का सूत्र पात हुआ।

थियेट्रिकल उपन्यास

'हरिऔधजी' ने 'अधखिला फूल' और 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' उपन्यास रचे; किन्तु इन उपन्यासों की विशेषता इनकी भाषा में ही है। पहले उपन्यास की भाषा संस्कृत गर्भित है और दूसरे की ठेठ बोलचाल की हिन्दी।

इनके अतिरिक्त लज्जाराम मेहता, राधाचरण गोस्वामी, देवीप्रसाद शर्मा, देवीसहाय शुक्ल आदि भी अच्छे उपन्यासकार

थे। तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों के बाद से लगाकर प्रेमचन्द जी के पहले पहले जितने भी उपन्यास लिखे गये वे सब सुधारवादी उपन्यास थे। वे उपन्यासकार अपनी कृतियों द्वारा समाज-सुधार का सतत् प्रयत्न करते रहते थे।

सुधारवादी उपन्यास

इसी समय व्रजनन्दनसहाय ने 'राधाकान्त', 'सौन्दर्योपासक', 'राजेन्द्र मालती' आदि उपन्यास लिखकर ठा० जगमोहनसिंह द्वारा चलाई गई भाव-प्रधान उपन्यासों की धारा को भी अक्षुण्य बनाये रक्खा।

प्रेमचन्द जी के पहले के उपन्यास-साहित्य को देखने से अनुभव होगा कि उसमें तीन प्रवृत्तियां मुख्य रूप से कार्य कर रही थीं :-- कौतूहल की, प्रेम की और सुधार की। यद्यपि हम पहले देख आये हैं कि इनका उद्गम संस्कृत साहित्य से ही है तथापि उस समय भी भारत की कुछ ऐसी परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण लोगों की रुचि उक्त भावनाओं की ओर अधिक हो गई थी। रीतिकाल यद्यपि चला गया था; किन्तु उसकी छाया अभी बनी हुई थी। इसलिये लोगों का मन प्रेम-कथाओं में अधिक रमता था। इसी कारण प्रेम के आधार पर लिखे गये तिलस्मी तथा सामाजिक उपन्यास अधिक लोकप्रिय हुए। सुधार-भावना आर्य समाज और ब्रह्म-समाज का प्रतिफल थी। इन संस्थाओं द्वारा सामाजिक रूढ़ियों को दूर करने के उपदेश दिये जा रहे थे। अतः तत्कालीन उपन्यासों में भी इन सुधारवादी उपदेशों का चित्रण होने लगा। कौतूहल वृत्ति तो कथा की मूल प्रेरणा ही है, अतः समय पाकर इसका बढ़ना स्वाभाविक ही था।

प्रवृत्तियाँ और उनके कारण

इन मौलिक उपन्यासों के साथ साथ अनुवादों का क्रम भी चल रहा था। बँगला, अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, मराठी, गुजराती आदि अनेक भाषाओं के अनूदित उपन्यास हिन्दी में दिखाई देने लगे थे।

अब तक के उपन्यासों में तीन प्रकार की भाषा देखने को मिलती है। बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी आदि की भाषा संस्कृत-गर्भित होते हुए भी स्वाभाविकता लिये हुए है;

भाषा

किन्तु कुछ लेखकों की भाषा में अप्रचलित संस्कृत शब्दों की अनावश्यक भरमार हो गई है, जिसके कारण वह अस्वाभाविक बन गई है। उदाहरणार्थ जैनेन्द्रकिशोर ने 'कमलिनी' उपन्यास में 'नाक बह रही है' के स्थान पर नासिका रंध्र स्फीत-हो रहा है' जैसी भाषा लिखी है। तीसरी श्रेणी में देवकीनन्दन खत्री आदि की भाषा है जो चलती और बोलचाल की है, जिसमें उर्दू के अतिप्रचलित शब्दों को भी आत्मसात कर लिया गया है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी राज्य के अत्याचारों के कारण लोगों में असंतोष फैलता गया। समाज में विषमता बढ़ती गई। अमीर और गरीब दूर दूर होते गये। जमींदार और किसान की

परिवर्तन

आर्थिक स्थिति के बीच गहरी खाई पड़ गई। राज-कर्मचारियों के अत्याचार बढ़ते गये। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक-युवतियां अपना नया संसार बनाने की धुन में लगे। निर्धनता का नग्न नृत्य होने लगा। देश पर विपत्ति के बादल मँडराने लगे। दीन और दलितों की संख्या बढ़ने लगी।

आर्य समाज और कांग्रेस इन परिस्थितियों को सुधारने में प्रयत्नशील हुईं। कई प्रकार के धार्मिक और राजनैतिक आंदोलन प्रारम्भ हुए। सत्याग्रह छिड़ा। असहयोग

नवीन-चेतना

आन्दोलन चला। किसानों को ज़मीदारों के चंगुल से छुड़ाने की योजनाएँ बनने लगीं। महात्मा गांधी सत्य और अहिंसा का मूल-मंत्र लेकर स्वतंत्रता-युद्ध एवं

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य में संलग्न हुए। पश्चिम में मार्क्स और फ्रायॅड ने अपने अपने आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का शंखनाद किया। प्राचीन आदर्शों के प्रति लोगों की श्रद्धा कम होने लगी। पश्चिम में साहित्य के मान बदले।

स्वर्ण-युग

ऐसे समय में प्रेमचन्द जी (सं० १९३७—९०) हिन्दी जगत में युगान्तरकारी बनकर आये। उन्होंने श्रमिक-वर्ग की आवाज को ऊँचा उठाया, पूँजीवाद के खोखलेपन को जनता के सामने रक्खा। उनके उपन्यासों के पात्र काल्पनिक न होकर वास्तविक होने लगे। उन्होंने किसान, मजदूर, सिपाही, साहूकार, जमीदार सब के चित्र अपने उपन्यासों में अङ्कित किये। उनकी घटनाएँ हमारे दैनिक जीवन की घटनाएँ होने लगीं। उन्होंने आदर्शवाद को यथार्थवाद की भूमि पर लाकर खड़ा किया। उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक सभी परिस्थितियों को अपनी रचनाओं में चित्रित किया। मुन्शी जी ने चरित्र-चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कारण उनके चरित्र सजीव हो उठे. उनके उपन्यास घटना-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान होने लगे। प्रेमचन्द जी ने गांधीवाद का प्रतिपादन किया। इस प्रकार उनके उपन्यास हमारे जीवन के चित्र बन गये। उन्होंने जन-साधारण की बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया। उनके सभी उपन्यास सामाजिक हैं। ग़बन, गोदान, प्रेमाश्रम, सेवासदन, रंगभूमि, कर्बला, कर्मभूमि, कायाकल्प, निर्मला आदि उनके अतिप्रसिद्ध उपन्यास हैं।

प्रेमचन्द जी द्वारा प्रदर्शित-पथ-पर कौशिक जी आये। 'कौशिक' जी में प्रेमचन्द जी की अपेक्षा हृदय का स्पन्दन अधिक है।' 'मां' और 'भिखारिणी' उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

'प्रसादजी' (सं० १६४६—६४) सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न कलाकार थे। उन्होंने 'कंकाल' और 'तितली' दो उपन्यास लिखे। 'इरावती' पूरा भी न हो पाया था कि वे संसार से चल बसे। प्रसाद जी पूर्ण यथार्थवादी थे। 'कंकाल' में समाज के खोखलेपन की झलक है तथा 'तितली' में नारी-भावना का सजीव चित्रण। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, कथानक आदि सभी दृष्टियों से प्रसादजी के उपन्यास सफल रचनाएँ हैं। हां, प्रसाद जी में प्रेमचन्द जी की अपेक्षा भावनाओं का आधिक्य है। प्रसाद जी के उपन्यास कवित्व-पूर्ण हैं और उन्होंने पात्रों के हृदयगत भावों के विश्लेषण पर अधिक ध्यान दिया है। इस प्रकार प्रसाद जी ने ठा० जगमोहनसिंह एवं ब्रजनन्दनसहाय द्वारा बनाई गई भाव-प्रधान उपन्यासों की माला में दो पुष्प और पिरोये।

चण्डीप्रसाद हृदयेश ने अपने 'मंगल-प्रभात' एवं 'मनोरमा' भाव-प्रधान उपन्यासों द्वारा इस माला को और आगे बढ़ाया।

हिन्दी में किशोरीलाल गोस्वामी ने जिस ऐतिहासिक-उपन्यास-रचना का सूत्रपात किया उसे श्री वृन्दावनलाल वर्मा (जन्म सं० १६४६) ने चरमसीमा पर पहुंचाया। आपने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे हैं; किन्तु आपकी ख्याति ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में ही अधिक है। झाँसी की रानी, विराटा की पद्मिनी, गढ़ कुँढार, कचनार, मृगनयनी आदि आपके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'झाँसी की रानी' तथा 'मृगनयनी' पर आपको कई पुरस्कार भी प्राप्त हो चुके हैं। वातावरण की सजीवता ही आपके ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषता है। आपके उपन्यासों में आदर्श और यथार्थ दोनों लिपटे हुए चलते हैं। 'रोमेंस' आपके उपन्यासों की दूसरी विशेषता है। भाषा आपकी अत्यन्त सरल और व्यावहारिक होती है। आपके कुछ उपन्यासों में बुन्देलखण्ड का प्रेम

स्पष्ट झलकता है। आप चरित्रों, घटनाओं आदि का बड़ा सफल चित्रण करते हैं। 'लगन', 'अभ्यागत', 'प्रेम की भेंट', 'कुण्डलीचक्र', 'कोतवाल की करामात' और 'सचल मेरा कोई' आपके सामाजिक उपन्यास हैं जो प्रेम-प्रधान हैं।

सियारामशरण गुप्त (जन्म सं० १९५२) कुछ धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। उनके उपन्यासों में समाज-सुधार की भावना अधिक मिलती है। आप भी प्रेमचन्द जी की तरह गांधीवाद के पक्षपाती हैं। 'अन्तिम आकांक्षा', 'गोद', 'झूठ-सच' और 'नारी' उपन्यास आपके द्वारा लिखे गये हैं।

सामाजिक उपन्यास

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् लिखे गये उक्त उपन्यासों को हम सामाजिक उपन्यास कह सकते हैं। उनमें यद्यपि व्यक्ति की अवहेलना नहीं की गई है तथापि सम्पूर्ण समाज के चित्रण की ओर लेखकों का विशेष ध्यान रहा है। इसके अतिरिक्त इन उपन्यासों में यथार्थ चित्रण है; किन्तु उसके साथ साथ आदर्श की ओर संकेत भी है। उपन्यासों में कहीं-कहीं सुधार-प्रवृत्ति भी लुकी-छुपी सी झाँकती हुई दिखाई पड़ती है। कुछ रचनाओं में राजनैतिक चित्रण भी विशेष रूप से मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इन उपन्यासों पर गांधीवाद का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

किन्तु आजकल उक्त रचनाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी उपन्यास निकलने लगे हैं जिन्हें हम मनोवैज्ञानिक उपन्यास कह सकते हैं। इनमें समाज का उतना चित्रण नहीं होता जितना व्यक्ति का। व्यक्ति का चरित्र ही इनमें सब कुछ होता है। मार्क्स और फ्रायड के प्रभाव से व्यक्ति का विश्लेषण ही इन उपन्यासों की विशेषता है। पहले उपन्यास-

कार पात्रों के चरित्रों की अच्छाइयाँ ही चित्रित करते थे। यदि कहीं बुराइयाँ दिखला भी दी जाती थीं तो उनको दूर करने की बात भी साथ ही कही जाती थी तथा इस प्रकार के चरित्रों को पाठक भी हेय दृष्टि से देखते थे। किन्तु मनोविज्ञान के प्रचार के कारण उपन्यासों में पात्रों की दुर्बलताओं के चित्र भी अंकित किये जाने लगे आजकल मनुष्य की दुर्बलताओं को परिस्थिति जन्य होने के कारण स्वाभाविक समझा जाने लगा है। इसी विचार को शरत्बाबू ने अपने उपन्यासों में चित्रित कर यह बताया कि हमें पाप से घृणा, किन्तु पापी से सहानुभूति रखनी चाहिये। इसके अतिरिक्त आज आचार और अनाचार की परिभाषाओं में भी अन्तर हो गया है। पाप और पुण्य भी कुछ नहीं रहा है। आजकल मनुष्य को परिस्थितियों का दास माना जाने लगा है। उन परिस्थितियों में उसकी जो मानसिक दशा होती है और उसके फल स्वरूप मनुष्य जो कार्य कर बैठता है उनका वास्तविक चित्रण ही सर्व-श्रेष्ठ कला समझा जाने लगा है। आज के कलाकार का ध्यान व्यक्ति के अवचेतन मन की ओर अधिक रहता है।

इन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को लेकर श्री जैनेन्द्रकुमार (जन्म सं० १९६२) आये। उन्होंने अपने 'परख' 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' आदि उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक आधार पर ही चरित्र-चित्रण किया है। इनके उपन्यास चरित्र प्रधान हैं। 'सुनीता' में मनुष्य की इस प्रकार दबी हुई प्रवृत्तियों का चित्रण किया गया है जिन्हें प्राचीन मानदण्डों से चाहे हम निन्द्य कहदें; किन्तु वे हैं स्वाभाविक। 'सुनीता' में घटनाक्रम तो वैसे है ही नहीं, केवल चरित्रों का मनोविश्लेषण ही है। अन्तर्द्वन्द्व इनके उपन्यासों की विशेषता है।

इसी मनोविश्लेषण को लेकर भगवतीप्रसाद वाजपेयी (जन्म सं० १९५६) ने 'दो बहिनें', 'पिपासा', 'प्रेम - पथ', 'निमंत्रण', 'लालिमा', 'पतिता की साधना' आदि उपन्यास लिखे। इनके

उपन्यासों का मुख्य विषय नारी और प्रेम है। साथ ही नारी-सौन्दर्य के मनमोहक चित्रों का भी प्राचुर्य है। 'दो बहिनों' में घात-प्रतिघात बहुत अच्छा दिखाया गया है।

भगवतीचरण वर्मा-(जन्म सं० १९६०) की ख्याति का आधार उनकी 'चित्र लेखा' है। इसे हम 'समस्या-उपन्यास' कह सकते हैं। इसमें पाप और पुण्य की समस्या को सुलझाने का ही प्रयत्न किया गया है और अन्त में बताया गया है कि संसार में न कोई कृत्य पाप है न कोई पुण्य। संसार में परिस्थितियां ही मुख्य हैं। वे ही मनुष्य से सब कुछ करा लेती हैं। मनुष्य तो केवल निमित्त मात्र है। यह उपन्यास चरित्र-प्रधान है। इसकी पृष्ठ भूमि तो ऐतिहासिक है; किन्तु कथानक कल्पित है। इसके कथोपकथन बड़े सजीव एवं नाटकीय हैं। इसमें मनोविश्लेषण अपनी चरमसीमा पर पहुंच गया है। यह कहना अनुचित न होगा कि चित्र-लेखा' हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त आपके 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' और 'तीन वर्ष' भी अच्छे उपन्यास हैं।

फ्रायॅड, युङ्ग और एडलर के मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों का प्रभाव पश्चिम के उपन्यास-साहित्य पर बहुत अधिक पड़ा। प्रत्येक मनो-

प्राकृतवादी उपन्यास

वैज्ञानिक विश्लेषण के लिये व्यक्ति के अवचेतन मन को टटोला जाने लगा। उक्त मनःशास्त्रियों ने बताया कि मनुष्य की प्राकृतिक वासनाओं को जब दबाया जाया है तो वे उसके अवचेतन मन में जाकर कुछ समय के लिये अदृश्य हो जाती हैं; किन्तु समय पाकर वे पशु-वृत्तियां और भी विकृत रूप में फूट पड़ती हैं जिसके कारण कभी कभी मनुष्य अपने स्वभाव के प्रतिकूल कार्य कर बैठता है। उनका कहना है कि मनुष्य सामाजिक रूढ़ियों के कारण अपनी उन पशु-प्रवृत्तियों को छुपाता रहता है अन्यथा पशु और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है।

इन सिद्धान्तों को लेकर सबसे पहले फ्रेंच लेखक एमिल ज़ोला ने रचना आरम्भ की। उसका प्रभाव अंग्रेजी पर और फिर हिन्दी पर पड़ा। इस प्रकार के उपन्यासों की रचना और लोक-प्रियता का कारण मनुष्य की उत्तरोत्तर बढ़ती रूप-लालसा और यौन आकर्षण ही है। ऐसे उपन्यासों को जिनमें प्रेम और वासना के नग्न चित्र अङ्कित किये जाते हैं प्राकृतवादी-उपन्यास (Naturalistic Novels) कहते हैं। ऐसे उपन्यासों में लेखकों का ध्येय सभ्यता के कृत्रिम आवरण को हटाकर मनुष्य को उसके नग्नतम रूप में चित्रित करना ही होता है। एक समालोचक का कहना है कि "प्राकृतवाद साहित्यिक सौन्दर्य और गुणों की उपेक्षा करता है और विज्ञान द्वारा उद्घाटित जीवन के यथार्थ सत्य की व्यञ्जना करने का प्रयत्न करता है।"*

इस प्रकार के उपन्यासकारों में श्री इलाचन्द्र जोशी (जन्म स० १९५९) अग्रगण्य हैं। आपके 'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'लज्जा' तथा 'निर्वासित' उपन्यास निकल चुके हैं। आपने उपन्यासों में उक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। कई स्थानों पर तो इन सिद्धान्तों पर लम्बे लम्बे वक्तव्य भी दिये गये हैं। इनके सभी उपन्यासों में एक प्रकार की समानता है। आपने शुद्ध संस्कृत के प्रयोग का प्रयत्न किया है। उपमान भी नये भौतिक विज्ञान से लिये गये हैं; जैसे पात्रों के मन में 'ऐटम' का विस्फोट होना तथा मन के हल्केपन को 'हाइड्रोजन भरे बैलून' से उपमा देना।

इसी प्राकृतवाद को लेकर पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' (जन्म स० १९५८) ने 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'चन्द हसीनों के खतूत',

* Naturalism disdains literary graces and purports to tell the truth about life as it has been revealed by the Sciences."

'दिल्ली का दलाल', 'जीजी जी', 'शराबी' आदि उपन्यास लिखे। इनके उपन्यासों में समाज के कुत्सित चित्र बहुत अधिक हैं। इन :पन्यासों में यथार्थ की चरम सीमा है; वासना का नग्न चित्र है। ाद्यपि उग्रजी का ध्येय इस प्रकार के नग्न चित्रों द्वारा समाज का ंडाफोड़ कर उसका सुधार करने का रहा है; किन्तु इस उद्देश्य की ंति न होकर इन उपन्यासों द्वारा समाज में उल्टी कुरुचि-पूर्ण ावनाएँ फैली हैं। उग्रजी पात्रों के बाह्य-चित्रण में जितने सफल ये हैं। उतने मानसिक-चित्रण में नहीं। इनके उपन्यासों की एक ाेषता है--उनकी चमत्कार-पूर्ण खेलती हुई चटपटी भाषा।

सर्वदानन्द वर्मा का 'नरमेध', नरोत्तम नागर का 'दिन के तारे' ादि उपन्यास भी इसी श्रेणी के हैं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् समाज की आर्थिक विषमता ने और े उग्र रूप धारण किया। इस युद्ध में रूस की दृढ़ता एवं असाधारण विजय ने संसार को वहाँ की साम्यवादी व्यवस्था की ओर और भी आकर्षित किया। लोगों की मार्क्सवाद के प्रति श्रद्धा बढ़ी। नंगी भूखी जनता का गांधीवाद पर से विश्वास हटने लगा। कांग्रेस को ंजीवादी संस्था समझा जाने लगा।

मार्क्सवाद

इन परिस्थितियों का प्रभाव हिन्दी के उपन्यास लेखकों पर पड़ना ाभाविक ही था। सर्व प्रथम यशपाल जी ने मार्क्सवादी विचारधारा को लेकर 'दादा कॉमरेड', 'पार्टी कॉमरेड', 'देशद्रोही' आदि उपन्यासों की रचना की। इनमें गांधीवाद पर व्यंग किये गये हैं तथा साम्यवाद सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। राजनैतिक नीरस आंदोलनों रोमेंस के छींटों ने सरसता ला दी है। इनमें समाज का यथार्थ-त्रण हुआ है। ये उपन्यास विचार-प्रधान हैं, जिनकी रचना मार्क्स-

प्रचारात्मक उपन्यास

वादी प्रचार का उद्देश्य लेकर ही की गई है। इन उपन्यासों के संबंध में यही कहा जा सकता है कि यशपाल जीने इनमें विचारों को प्रमुख एवं औपन्यासिक-कला को गौण स्थान दिया है।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी अपने 'सिंह - सेनापति' में ऐतिहासिक वातावरण के बीच बड़ी सुन्दरता पूर्वक मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

अभी उपन्यास-साहित्य प्रगति की ओर उन्मुख है। कई लेखक इस कला में नवीन विधानों (Techniques) का प्रयोग कर रहे हैं। 'उपन्यास के तत्व' प्रकरण में जिन तत्वों की विवेचना की गई है उनमें बहुत कुछ हेर फेर भी किया जा रहा है। कुछ लेखक इन तत्वों के बन्धन को तोड़ कर उन्मुक्त-शैली के नये नये प्रयोग कर रहे हैं। 'अज्ञेय' जी का 'शेखर — एक जीवनी' इस उन्मुक्त शैली का एक उदाहरण है। इसकी रचना आत्मकथा-शैली में है। यह उपन्यास के नाम पर एक व्यक्ति की 'जीवनी' है। इसकी घटनाओं में कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है। इसमें एक व्यक्ति के जीवन की अनेक घटनाओं के संकलन मात्र का प्रयत्न जान पड़ता है।

उन्मुक्त-शैली

इसी प्रकार उदयशङ्कर भट्ट के 'वह जो मैंने देखा' में भी कुछ नया विधान देखने को मिलता है।

इनके अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, रांगेय राघव, अंचल, उपेन्द्रनाथ अश्क, गोविन्दवल्लभ पंत, 'निराला' आदि भी अच्छे उपन्यासकार हैं। उपन्यास लेखिकाओं में उषा देवी मित्रा, कुटुम्ब-प्यारी देवी, कुमारी कञ्चनलता सब्बरवाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

विशेष

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य संस्कृत की हितोपदेश, पंचतंत्र आदि की उपदेशात्मक कहानियों से प्रारम्भ होकर, तिलस्मियों और जासूसों की कौतूहल-वर्धक कथाएँ कहता हुआ समाज-सुधार की ओर अग्रसर हुआ। तत्पश्चात् सामाजिक और राजनैतिक चित्रण के साथ मानव-चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता हुआ प्राकृतवाद के प्रांगण में खड़ा अब मार्क्सवाद के प्रचार में संलग्न अपने आपको पूर्ण मुक्तावस्था में देखने का प्रयत्न कर रहा है। अभी यह प्रगतिशील है, अतः इसके भविष्य के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि विदेशी चोले में अब भारतीय प्राण अपने अन्तिम श्वास ले रहे हैं। ऐसी अवस्था में साहित्य-निर्माताओं को इसकी आत्मरक्षा की ओर ध्यान देना चाहिये।

विहङ्गम-दृष्टि